विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २७ अंक ३

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

निर्माण कार्य जैसा भी हो
सेन्चुरी सीमेन्ट
सर्वोत्तम है
CENTURY'S
VISHWAKARMA
PORTLAND CEMENT
50 Kg. Nett.
सेन्चुरी सीमेन्ट द्वारा उत्पादित
'विश्वकर्मा' ब्रान्ड सीमेन्ट
शक्तिशाली पकड़ एवं दीर्घकालीन
टिकाऊपन के लिए विश्वसनीय सीमेन्ट है।
निर्माता-सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.
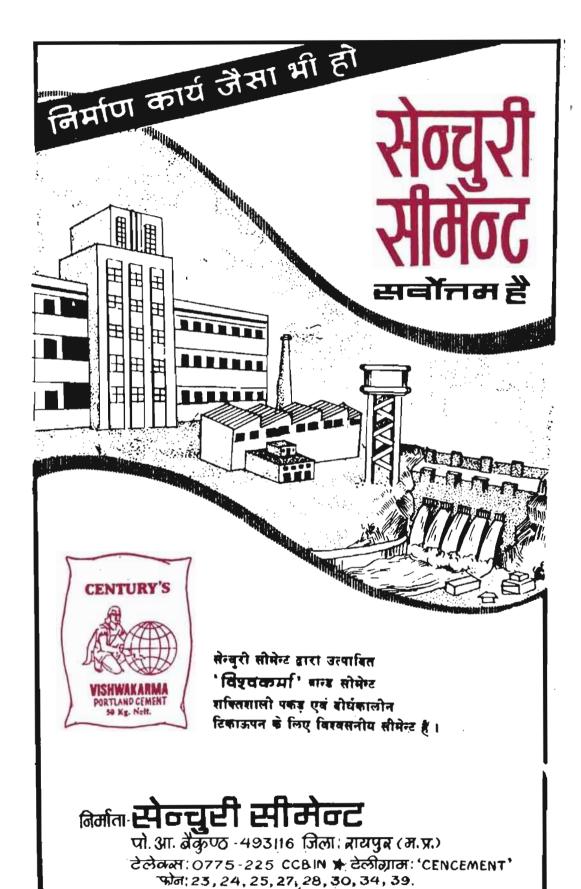
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर

• १९८९ •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"
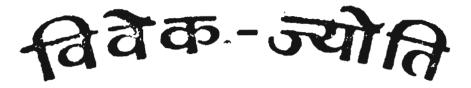
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २७] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [अंक ३

★ १९८९ ★

परोपकारी का स्वभाव

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूमि विलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।

—जैसे वृक्ष फल लगने से नीचे की ओर झुक जाते हैं, वर्षा के जल से भरे हुए नवीन मेघ धरती की ओर झुक जाते हैं, वैसे ही सत्पुरुष सम्पत्ति पाकर भी उद्धत नहीं होते, वल्कि नम्र हो जाते हैं । निस्सन्देह परोपकारी मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा होता है ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ७०

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स
विम्बलडन, इंग्लैण्ड,
१७ सितम्बर, १८९६

प्रिय बहन,

स्विट्ज़रलैण्ड में दो महीने तक पर्वतारोहण, पद-यात्रा और हिमनदों का दृश्य देखने के बाद आज लन्दन पहुँचा। इससे मुझे एक लाभ हुआ—शरीर का व्यर्थ का मुटापा छँट गया और वजन कुछ पौंड घट गया। ठीक, किन्तु उसमें भी खैरियत नहीं, क्योंकि इस जन्म में जो ठोस शरीर प्राप्त हुआ है, उसने अनन्त विस्तार की होड़ में मन को मात देने की ठान रखी है। अगर यह रवैया जारी रहा तो मुझे जल्द ही अपने शारीरिक रूप में अपनी व्यक्तिगत पहिचान खोनी पड़ेगी—कम से कम शेष सारी दुनिया की निगाह में।

हैरियट के पत्र के शुभ संवाद से मुझे जो प्रसन्नता हुई, उसे शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। मैंने उसे आज पत्र लिखा है। खेद है कि उसके विवाह के अवसर पर मैं नहीं आ सकूँगा, किन्तु समस्त शुभ-कामनाओं और आशीर्वादों के साथ मैं अपने 'सूक्ष्म शरीर' से उपस्थित रहूँगा। खैर, अपनी प्रसन्नता की पूर्णता के निमित्त मैं तुमसे तथा अन्य बहनों से भी इसी प्रकार के समाचार की अपेक्षा करता हूँ।

इस जीवन में मुझे एक बड़ी नसीहत मिली है, और प्रिय मेरी, मैं अब उसे तुम्हें बताना चाहता हूँ। वह

है—'जितना ही ऊँचा तुम्हारा ध्येय होगा, उतना ही अधिक तुम्हें सन्तप्त होना पड़ेगा।' कारण यह है कि 'संसार में' अथवा इस जीवन में भी आदर्श नाम की वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती। जो संसार में पूर्णता चाहता है वह पागल है, क्योंकि वह हो नहीं सकती।

ससीम में असीम तुम्हें कैसे मिलेगा? इसलिए मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि हैरियट का जीवन अत्यन्त आनन्दमय और सुखमय होगा, क्योंकि वह इतनी कल्पनाशील और भावुक नहीं है कि अपने को मूर्ख बना ले। जीवन को सुमधुर बनाने के लिए उसमें पर्याप्त भावुकता है और जीवन की कठोर गुत्थियों को, जो प्रत्येक के सामने आती ही हैं, सुलझाने के लिए उसमें काफी समझदारी तथा कोमलता भी है। उससे भी अधिक मात्रा में वे ही गुण मैककिंडले में भी हैं। वह ऐसी लड़की है जो सर्वोत्तम पत्नी होने लायक है, पर यह दुनिया ऐसे मूढ़ों की खान है कि इने-गिने लोग ही आन्तरिक सौन्दर्य परख पाते हैं! जहाँ तक तुम्हारा और आइसाबेल का सवाल है, मैं तुम्हें सच बताऊँगा और मेरी भाषा स्पष्ट है।

मेरी, तुम तो एक बहादुर अरब जैसी हो—शानदार और भव्य। तुम भव्य राजमहिषी बनने योग्य हो—शारीरिक दृष्टि से और मानसिक दृष्टि से भी। तुम किसी तेज-तर्रार, बहादुर और जोखिम उठानेवाले वीर पति की पार्श्ववर्ती बनकर चमक उठोगी; किन्तु प्रिय बहन, पत्नी के रूप में तुम खराब से खराब सिद्ध होगी। सामान्य दुनिया में जो आराम से जीवन व्यतीत करनेवाले, व्यावहारिक तथा कार्य के बोझ से पिसनेवाले पति हुआ करते हैं, उनकी तो तुम जान ही निकाल लोगी। साव-

धान, बहन, यद्यपि किसी उपन्यास की अपेक्षा वास्तविक जीवन में अधिक रूमानिअत है, लेकिन वह है बहुत कम। अतएव तुम्हें मेरी सलाह है कि जब तक तुम अपने आदर्शों को व्यावहारिक स्तर पर न ले आ सको, तब तक हरगिज विवाह मत करना। यदि कर लिया तो दोनों का जीवन दुःखमय होगा। कुछ ही महीनों में सामान्य कोटि के उत्तम, भले युवक के प्रति तुम अपना सारा आदर खो बैठोगी और तब जीवन नीरस हो जाएगा। बहन आइसाबेल का स्वभाव भी तुम्हारे ही जैसा है। अन्तर इतना ही है कि किंडरगार्टन की अध्यापिका होने के नाते उसने धैर्य और सहिष्णुता का अच्छा पाठ सीख लिया है। सम्भवतः वह अच्छी पत्नी बनेगी।

दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक कोटि तो उन लोगों की है जो दृढ़ स्नायुओंवाले, शान्त तथा प्रकृति के अनुरूप आचरण करनेवाले होते हैं; वे अधिक कल्पनाशील नहीं होते, फिर भी अच्छे, दयालु, सौम्य आदि होते हैं। दुनिया ऐसे लोगों के लिए ही है—वे ही सुखी रहने के लिए पैदा हुए हैं। दूसरी कोटि उन लोगों की है, जिनके स्नायु अधिक तनाव के हैं, जिनमें प्रगाढ़ भावना है, जो अत्यधिक कल्पनाशील हैं, सदा एक क्षण में बहुत ऊँचे चले जाते हैं और दूसरे क्षण नीचे उतर आते हैं——उनके लिए सुख नहीं। प्रथम कोटि के लोगों का सुख-काल प्रायः सम होता है और द्वितीय कोटि के लोगों को हर्ष-विषाद के द्वन्द्व में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। किन्तु इसी द्वितीय कोटि में ही उन लोगों का आविर्भाव होता है, जिन्हें हम प्रतिभा-सम्पन्न कहते हैं। इस हाल के सिद्धान्त में कुछ सत्य है कि 'प्रतिभा एक प्रकार का पागलपन है।'

इस कोटि के लोग यदि महान् बनना चाहें तो उन्हें वारे-न्यारे की लड़ाई लड़नी होगी——युद्ध के लिए मैदान साफ करना पड़ेगा। कोई बोझ नहीं——न जोरू न जाँता, न बच्चे और न किसी वस्तु के प्रति आवश्यकता से अधिक आसक्ति। अनुरक्ति केवल एक 'भाव' के प्रति और उसी के निमित्त जीना-मरना। मैं इसी प्रकार का व्यक्ति हूँ। मैंने केवल वेदान्त का भाव ग्रहण किया है और 'युद्ध के लिए मैदान साफ कर लिया है।' तुम और आइसाबेल भी इसी कोटि में हो, परन्तु मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ, यद्यपि है यह कटु सत्य, कि 'तुम लोग अपना जीवन व्यर्थ चौपट कर रही हो।' या तो तुम लोग एक भाव ग्रहण कर लो, तन्निमित्त मैदान साफ कर लो और जीवन अर्पित कर दो; या सन्तुष्ट एवं व्यावहारिक बनो; आदर्श नीचा करो, विवाह कर लो एवं 'सुखमय जीवन' व्यतीत करो। या तो 'भोग' या 'योग'——सांसारिक सुख भोगो या सब त्यागकर योगी बनो। 'एक साथ दोनों की उपलब्धि किसी को नहीं हो सकती।' अभी या फिर कभी नहीं——शीघ्र चुन लो। अब सच्चे दिल से वास्तव में और सदा के लिए कर्म-संग्राम के लिए 'मैदान साफ करने' का संकल्प करो; कुछ भी ले लो, दर्शन या विज्ञान या धर्म अथवा साहित्य कुछ भी ले लो और अपने शेष जीवन के लिए उसी को अपना ईश्वर बना लो। या तो सुख ही लाभ करो या महानता। तुम्हारे और आइसाबेल के प्रति मेरी सहानुभूति नहीं, तुमने न इसे चुना है न उसे। मैं तुम्हें सुखी——जैसा कि हैरियट ने ठीक ही चुना है——अथवा 'महान्' देखना चाहता हूँ। भोजन, मद्यपान, शृंगार तथा सामाजिक अल्हड़पन ऐसी

वस्तुएँ नहीं कि जीवन को उनके हवाले कर दो---विशेषत: तुम, मेरी ! तुम एक उत्कृष्ट मस्तिष्क और योग्यताओं में घुन लगने दे रही हो, जिसके लिए जरा भी कारण नहीं है । तुममें महान् बनने की महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिए । मैं जानता हूँ कि तुम मेरी इन कटूक्तियों को समुचित भाव से ग्रहण करोगी, क्योंकि तुम्हें मालूम है कि मैं तुम्हें बहन कहकर जो सम्बोधित करता हूँ, वैसा ही या उससे भी अधिक तुम्हें प्यार करता हूँ । इसे बताने का मेरा बहुत पहले से विचार था और ज्यों ज्यों अनुभव बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों इसे बता देने का विचार हो रहा है । हैरियट से जो हर्षमय समाचार मिला, उससे हठात् तुम्हें यह सब कहने को प्रेरित हुआ । तुम्हारे भी विवाहित हो जाने और सुखी होने पर, जहाँ तक इस संसार में सुख सुलभ हो सकता है, मुझे बेहद खुशी होगी, अन्यथा मैं तुम्हारे बारे में यह सुनना पसन्द करूँगा कि तुम महान् कार्य कर रही हो ।

जर्मनी में प्रोफेसर डॉयसन से मेरी भेंट मजेदार थी । मुझे विश्वास है कि तुमने सुना होगा कि वे जीवित जर्मन दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ हैं । हम दोनों साथ ही इंग्लैंड आये और आज साथ ही यहाँ अपने मित्र से मिलने आये, जहाँ इंग्लैंड के प्रवास-काल में मैं ठहरनेवाला हूँ । संस्कृत में वार्तालाप उन्हें अत्यन्त प्रिय है और पाश्चात्य देशों में संस्कृत के विद्वानों में वे ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो उसमें बातचीत कर सकते हैं । वे अभ्यस्त बनना चाहते हैं, इसलिए संस्कृत के सिवा अन्य किसी भाषा में वे मुझसे बातें नहीं करते ।

तुम्हारा सदैव सस्नेह भाई,
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

चौबीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

ज्ञानी किसान की कहानी

इस कहानी के द्वारा ठाकुर ने वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्त की चर्चा की है कि संसार मायामय है, स्वप्नवत् है। जो परमात्मा हैं, वे साक्षीस्वरूप हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के साक्षीस्वरूप हैं। इस प्रसंग में महिमाचरण को ठाकुर ने एक ज्ञानी किसान की कहानी सुनायी। किसान को अपने एकमात्र पुत्र हारू की मृत्यु का शोक नहीं हो रहा है। वह अपनी पत्नी से कहता है, "कल रात मैंने स्वप्न में देखा कि मैं राजा हो गया हूँ और आठ पुत्रों का पिता हूँ। अब अपने उन आठ पुत्रों के लिए रोऊँ कि तुम्हारे एक हारू के लिए!" अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न में उसे कोई अन्तर नहीं दिखता, उसके लिए दोनों ही समान हैं। इसका कारण यह है कि इन तीनों अवस्थाओं के अतीत उसने एक चौथी अवस्था की अनुभूति कर

ली है, जिसे तुरीय कहा जाता है। तुरीय अवस्था में जो अनुभूति होती है, उसकी दृष्टि से देखने पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों मिथ्या लगने लगते हैं, तीनों मानो जीव की अज्ञान की अवस्थाएँ हैं। इसीलिए इस मिथ्या कल्पना से उपजे जगत् के लिए उसके मन में कोई इच्छा नहीं उठती, उसका अनुभव उसके मन को चंचल नहीं करता। तभी तो ठाकुर कह रहे हैं, "किसान ज्ञानी है, उसने देख लिया है कि स्वप्नावस्था जैसे मिथ्या है, जाग्रत् अवस्था भी वैसे ही मिथ्या है, एक आत्मा ही नित्य वस्तु है।"

अवस्थात्रय : जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति

हम लोगों के लिए इस अनुभूति की धारणा करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि हम जगत् को सत्य मानकर देखने के अभ्यस्त हैं, इसे ही पकड़े रहना चाहते हैं। हम स्वप्न का अनुभव करते हैं और स्वप्न के टूट जाने पर देखते हैं कि सब मिथ्या है, लेकिन जाग्रत् को स्वप्न के समान मिथ्या ठहराना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्वप्न जिस तरह निरस्त हो जाता है, अर्थात् जाग्रत् अवस्था में मिथ्या प्रमाणित हो जाता है, उसी तरह हमारी एक और अवस्था नहीं है, जो इस जाग्रत् को स्वप्न की तरह मिथ्या प्रमाणित करे। सुषुप्ति में यद्यपि जाग्रत् और स्वप्न दोनों में देखे हुए जगत् अदृश्य हो जाते हैं, लेकिन उसके द्वारा उसका मिथ्यात्व प्रमाणित नहीं होता। अदृश्य होना और मिथ्यात्व का प्रमाणित होना—ये दोनों एक ही बात नहीं हैं। जैसे सामने दीवाल रहने पर उस पार की वस्तु दिखाई नहीं देती, लेकिन उससे उसका मिथ्यात्व प्रमाणित नहीं होता। दीवाल के व्यवधान के कारण हम उसे नहीं देख पाते।

उसी तरह सुषुप्ति अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ सक्रिय नहीं रहतीं, इसलिए हम वस्तुओं का अनुभव नहीं कर पाते। मैं यदि आँख बन्द कर लूँ तो क्या जगत् का लय हो जाता है? ऐसा तो नहीं होता। जगत् अदृश्य अवश्य हो जाता है, लेकिन मिथ्या प्रमाणित नहीं होता।

मिथ्या प्रमाणित करने के लिए उसे उसकी अपेक्षा एक उच्च अवस्था से देखना होगा। जाग्रत् अवस्था में स्वप्न का निषेध होता है। यद्यपि वेदान्त में कहीं कहीं पर स्वप्न के द्वारा जाग्रत् के निषेध की कल्पना की गयी है—जैसे गौड़पादकारिका के अजातवाद में—लेकिन साधारण क्षेत्र में सभी ने, यहाँ तक कि स्वयं शंकर ने भी, इस व्यावहारिक जगत् की सत्ता को स्वीकार किया है। जिस जगत् की व्यावहारिक सत्ता का हम अनुभव करते हैं, स्वप्न उसी की निम्नतर अनुभूति मात्र है, जिससे वह दिखाई तो देता है, लेकिन जगत् की दृष्टि से देखने पर उसमें कोई तारतम्य नहीं रहता। उसमें काल का तारतम्य, वस्तुओं की परस्पर शृंखला, कार्यकारण-सम्बन्ध-बोध उतना स्पष्ट नहीं रहता। इसीलिए स्वप्न को हम मिथ्या कहते हैं। जैसे मैं स्वप्न देखता हूँ कि मैं दिल्ली अथवा और भी दूर गया हूँ, पर शरीर तो जहाँ है वहीं पड़ा है। नींद से उठने के बाद कहता हूँ, स्वप्न देखा कि दिल्ली गया था।

इस स्वप्न के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ है और उसे देखने की भिन्न भिन्न दृष्टियाँ हैं। कोई कोई कहते हैं कि स्वप्नकाल में आत्मा देह से निकलकर दूर चली जाती है; जैसे दिल्ली गयी और लौट आयी। लेकिन ऐसी भी बहुत सी बातें हैं, जिनमें इस प्रकार का कोई तारतम्य नहीं है, जिससे समझा जा सकता है कि वह

सब मिथ्या है। स्वप्न के मिथ्यात्व को समझने के लिए अनेक युक्तियाँ हैं। मैं इस शरीर के भीतर हूँ, लेकिन कभी कभी ऐसा लगता कि शरीर बदल गया है। फिर उठकर देखा—शरीर तो ठीक है, बदला नहीं है। स्वप्न में इस प्रकार अनेक विपरीतताएँ, विश्रृंखलताएँ अनुभव में आती हैं, जिसके कारण हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। कई बार स्वप्न में देखते हैं, मानो कितना समय बीत गया; नींद से जागकर देखा कि पाँच मिनट भी नींद नहीं लगी। इस पाँच मिनट के स्वप्न में युग युग बीत गये—यह स्वप्न के मिथ्यात्व के प्रमाण के लिए प्रबल युक्ति है। देश, काल और उसका तारतम्य अथवा कार्य-श्रृंखला कुछ भी नहीं है। इसलिए जागने पर कह सकते हैं कि स्वप्नावस्था मिथ्या है। स्वप्नावस्था में विचार नहीं होता। कभी स्वप्न देखते हुए लगता है कि यह स्वप्न है—स्वप्न के भीतर ही स्वप्न! लेकिन वह भी स्वप्न का ही एक अंग है, उसके द्वारा विचार नहीं होता। जाग उठने पर अनुभव के द्वारा स्वप्न का विचार करता हूँ। उसमें श्रृंखला या तारतम्य का अभाव देख अनुभव करता हूँ कि स्वप्न मिथ्या है। यदि मिथ्या न होता तो इतने कम समय में इतनी लम्बी घटना का अनुभव किस तरह किया जा सकता था? अतः यह मिथ्या है। स्वप्न में अनुभव किया गया देश, काल, व्यक्ति सभी कुछ मिथ्या है। यह पग-पग पर प्रमाणित होता है कि स्वप्न मिथ्या है, कल्पना मात्र है।

जो व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि स्वप्न तो मिथ्या है, किन्तु जाग्रत् भी मिथ्या है यह स्वप्न के द्वारा प्रमाणित नहीं होता। स्वप्न का जब

अनुभव होता है, तब वह स्वप्न है। जगत् का जब अनुभव होता है, तब वह जगत् है। इन दोनों की तुलना जैसे हम जाग्रत् अवस्था में कर सकते हैं, वैसा स्वप्न में नहीं कर सकते। स्वप्न में जाग्रत् का विचार कर पाने पर सम्भवतः यह सन्देह उत्पन्न हो जाता कि दोनों में सत्य कौन है और मिथ्या कौन। दोनों को हम समपर्याय इसलिए नहीं कह सकते कि हम स्वप्न में जाग्रत् का विचार नहीं कर सकते। यदि यह विचार सम्भव होता, तब तो एक दूसरे को मिथ्या कहते हुए दोनों को समान कहा जा सकता था। अजातवाद के इस सिद्धान्त को हमारे देश में सामान्यतः वेदान्ती लोगों ने इस प्रकार स्वीकार नहीं किया है। वे कहते हैं—पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर स्वप्न जैसे मिथ्या है, जाग्रत् भी वैसे ही मिथ्या है। दोनों का मिथ्यात्व एक उच्चतर स्थिति पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रमाणित होता है, उससे पहले नहीं। जैसे जाग्रत् अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर स्वप्न मिथ्या प्रमाणित होता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत् का मिथ्यात्व तब प्रमाणित होगा, जब हम उसके अतीत तत्त्व में प्रतिष्ठित होंगे। वह स्थिति जाग्रत् से परे की होगी अथवा उसकी अपेक्षा स्थायी होगी। इस दृष्टि से देखकर वे कहते हैं कि एक उच्चतर सत्ता या अवस्था है, जहाँ पर अवस्थित होकर जाग्रत् को भी स्वप्नवत् मिथ्या अनुभव किया जाता है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से अतीत है। सुषुप्ति ऐसी अवस्था है, जहाँ स्वप्न तक नहीं होता। इस सुषुप्ति के बारे में अनेक प्रकार के मत हैं। कोई कहता है—सुषुप्ति अनुभवगम्य है, और कोई उसे कल्पना मात्र बतलाता है। जैसे मैं दो

बजे सोया, उठकर देखा, तीन बजे हैं। इस बीच मुझे कोई अनुभव नहीं हुआ, अतः अनुमान से कहता हूँ कि सुषुप्ति में वस्तु का अनुभव नहीं होता, क्योंकि अनुभव होने पर उसकी स्मृति बनी रहती।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं, जाग्रत् और स्वप्न जैसे प्रत्यक्ष हैं, वैसे ही सुषुप्ति भी प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्ष कैसे है? यदि प्रत्यक्ष न होती, तो केवल घड़ी देखकर जिसे मैंने सुषुप्ति कहा और यह बताया कि मुझे सुषुप्ति की स्मृति नहीं है, वहाँ कुछ भी अनुभव नहीं होता, यह मैंने कैसे जाना? इसका उत्तर देना कठिन है। यदि अनुभव होता तो उसकी स्मृति रहती, यह बात तो समझ में आयी। लेकिन स्मृति नहीं है, इसलिए अनुभव नहीं हुआ, यह कहना कैसे चलेगा? उस समय अनुभव नहीं हुआ, इसका क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में वेदान्त-वादी कहते हैं--तुम जो यह कहते हो कि अनुभव नहीं हुआ, इसका कारण यह है कि तब तुम अनुभवकर्ता नहीं थे।

"यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं च अनुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।" ---अर्थात् सुषुप्ति काल में जीव द्रष्टारूप रहता है, इसलिए कह सकता है कि तब उसने कुछ अनुभव नहीं किया। द्रष्टा न रहने से वह काल उसके लिए निश्चिह्न हो जाता, लेकिन ऐसा नहीं होता। सुषुप्तिकाल में द्रष्टा रहता है, लेकिन तब उसका अन्तःकरण क्रियाशील नहीं रहता, इसलिए उसकी स्मृति को धारण नहीं कर सकता; क्योंकि यदि वह न रहता तो यह कहता कौन है कि कुछ भी अनुभव नहीं होता?

आत्मा तीनों अवस्थाओं से अतीत

सुषुप्ति के सम्बन्ध में ये दो मत हैं। इस सम्बन्ध में वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि सुषुप्तिकाल में भी आत्मा रहती है––वह आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इनमें से कोई भी नहीं है, उसकी सत्ता इन तीनों से अतीत है, क्योंकि इन तीनों को वह अनुभव तथा प्रकाशित करती है। यदि वह इन तीनों अवस्थाओं के साथ मिल जाती, तब तो जाग्रत् अवस्था की आत्मा स्वप्न में नहीं रहती, स्वप्न की आत्मा सुषुप्ति में नहीं रहती और ये अवस्थाएँ एक दूसरे से विच्छिन्न होकर रहतीं। लेकिन जब ऐसा नहीं होता, जब एक ही 'मैं' जाग्रत् और स्वप्न का अनुभव करता है और उसी 'मैं' के द्वारा जब मुझे सुषुप्ति का बोध होता है, तब वह 'मैं' इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है, यही सिद्धान्त वेदान्त-विचार में निर्णीत होता है। "अनवर्तमानेषु यद्व्यावृत्तं तत्तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्"––'अनुवर्तमान वस्तुओं में जो व्यावृत्त है, वह अनुवर्तमान वस्तुओं से भिन्न है, जैसे एक सूत में गुँथे हुए फूलों से सूत भिन्न है।'

अनेक प्रकार के फूलों से गुँथी हुई एक माला है। उस माला में जहाँ पर लाल फूल है, वहाँ पर पीला फूल नहीं है; जहाँ पर पीला फूल है, वहाँ पर सफेद फूल नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक फूल एक दूसरे से भिन्न है, किन्तु प्रत्येक फूल के भीतर है एक धागा। यह धागा अनुवर्तमान है, अर्थात् सभी फूलों के भीतर है, फिर भी फूल अलग-अलग हैं। इसलिए समझना होगा कि धागा फूलों से भिन्न है। इस युक्ति के अनुसार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों परिवर्तनशील अवस्थाओं में प्रत्येक के

बीच में हूँ। अतः इस बात को ध्यान में रखना होगा कि मैं इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न हूँ, यह वेदान्तवादियों की प्रबल युक्ति है—मैं ही इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करता हूँ, जाग्रत् और स्वप्न में विविध वस्तुओं का अनुभव करता हूँ तथा सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव करता हूँ। अज्ञान माने यहाँ वस्तु का ज्ञान नहीं हो रहा है, इसलिए मात्र अज्ञान का अनुभव हो रहा है। अतः मैं इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न हूँ, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, द्रष्टा और प्रकाशक हूँ।

इस प्रकार विचार करके हमने आत्मा को जो जाना, वह उसकी कल्पना मात्र हुई, क्योंकि जब तक किसी वस्तु का साक्षात् अनुभव न हो, तब तक यह नहीं कह सकते कि मैं उस वस्तु को जान गया हूँ। यदि यह कहूँ कि इस वस्तु को मैंने अनुमान से जान लिया है, तो उसे प्रत्यक्ष या अपरोक्ष जानना नहीं कहा जा सकता। अनुमान-प्रमाण के द्वारा आत्मा की एक अवस्था की कल्पना कर सकते हैं, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न है। इस ज्ञान को हम 'आनुमानिक ज्ञान' कहते हैं। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

लेकिन वेदान्तवादी कहते हैं कि आत्मा के सम्बन्ध में यह जो अनुमान होता है, उसे हम जान पाते हैं या नहीं? 'नहीं जानता' यह कहते नहीं बनता, क्योंकि आत्मा को न जानने से मैं वस्तुओं को फिर जानता कैसे? प्रत्येक वस्तु के अनुभव के साथ साथ आत्मा का अनुभवकर्ता के रूप में अनुभव होता है। अपने अनुभवकर्तारूप अनुभव के बिना मैं वस्तु का अनुभव नहीं कर सकता। अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के अनुभवकर्ता के रूप में मैं हूँ। इस

प्रकार यद्यपि इस 'मैं' का हम नित्य अनुभव करते हैं, फिर भी इन तीनों अवस्थाओं से अलग उसका अनुभव हम कभी नहीं कर पाते। इसलिए आपातदृष्टि से यह आत्मा हमारे अनुमान का विषय होता है, इसे हम प्रत्यक्ष नहीं करते या, वेदान्तदर्शन की भाषा में, अपरोक्ष नहीं कर पाते। अनुमान के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे 'परोक्षज्ञान' कहा जाता है। आत्मा को अनुमान के द्वारा समझने की चेष्टा की, वह परोक्ष ज्ञान हुआ, अपरोक्ष नहीं। आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर हमारी ये तीनों अवस्थाएँ आत्मस्वरूप की तुलना में मिथ्या हो जाएँगी। उसके पहले हम तीन अवस्थाओं को मिथ्या नहीं कह सकते। हम जाग्रत् की भूमि पर खड़े होकर कहते हैं कि स्वप्न मिथ्या है। इसी प्रकार केवल जाग्रत् से नहीं, बल्कि तीनों अवस्थाओं से अतीत जो तत्त्व है, उस पर प्रतिष्ठित होकर यदि कभी विचार कर सकें, तब यह जाग्रत् भी मिथ्या बोध होगा। उस अवस्था पर प्रतिष्ठित होने पर आगे विचार होता नहीं, क्योंकि वहाँ द्वैत नहीं रह जाता; तब विचार करेगा कौन ?

ठाकुर कहते हैं—किसान कहता है कि जगत् स्वप्नवत् है। किसान किस अवस्था पर प्रतिष्ठित होकर यह कहता है?—तुरीय अवस्था पर। ठाकुर कह रहे हैं—"मैं सब लेता हूँ, तुरीय भी और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी।" वह आत्मा ही एक नित्य वस्तु है। जैसे स्वप्न-अवस्था मिथ्या है, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था भी। सुषुप्ति की बात नहीं कहते, क्योंकि उसके बारे में विचार करने पर तर्क की प्रणाली एक अन्य प्रकार की हो जाएगी। वह आत्मा ही एक नित्य वस्तु है और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति उस

आत्मा की तुलना में अनित्य हैं, क्योंकि जहाँ जाग्रत् है, वहाँ स्वप्न या सुषुप्ति नहीं है; जब सुषुप्ति है, तब जाग्रत् या स्वप्न नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र जहाँ एक है, वहाँ दूसरा नहीं है, अतः वे सब अवस्थाएँ अनित्य हैं, एक आत्मा ही नित्य वस्तु है, क्योंकि तीनों अवस्थाओं में वही आत्मा अनुस्यूत है। ठाकुर कहते हैं--"मैं तीनों अवस्थाएँ लेता हूँ। मैं जीव-जगत् सभी लेता हूँ, ब्रह्म भी और माया भी। सब न लेने से तौल कम पड़ जाएगी।"

ब्रह्म इन तीनों अवस्थाओं से अतीत का तत्त्व है। ब्रह्म सर्वव्यापी, सभी वस्तुओं का आधार है, वह सभी आरोपों का अधिष्ठान है। सारी वस्तुएँ ब्रह्म पर आरोपित हैं। मिथ्या शब्द का अर्थ क्या है? उसका अर्थ शून्य नहीं है। मिथ्या माने जैसा हम वस्तु को देखते हैं, वह वैसी नहीं है। जैसे रज्जु-सर्प। सर्प मिथ्या है, क्योंकि वह सर्प नहीं, रस्सी है। ठीक इसी प्रकार जगत् मिथ्या है, क्योंकि जगत् को हम जैसादेखते हैं, वह वैसा नहीं है। जगत् वास्तव में ब्रह्म है। स दृष्टि से देखने पर आत्म ही सत्य वस्तु है और सब मिथ्या है। ठाकुर सभी लेते हैं। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को वे अस्वीकार नहीं करते। तुरीय तीनों अवस्थाओं से अतीत सत्ता है, नित्य वस्तु है। जो अवस्था के रूप में भासित होता है, वह सामयिक रूप से आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ हैं, तुरीय वैसी कोई चौथी अवस्था नहीं है। इन तीनों के अतीत एक तत्त्व है, जहाँ आत्मा सर्वदा प्रतिष्ठित है। तभी तो ठाकुर कहते हैं, "माया, जीव, जगत्—मैं सब लेता हूँ।" उनकी माया के प्रभाव से यह जीव-जगत्-

सृष्टि है। जो एक और अद्वितीय हैं, वे अनेक कैसे हुए ? माया के प्रभाव से। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'— इन्द्र माया के द्वारा अनेक रूप धारण करते हैं। अनेक रूप उनके नहीं हैं, उनकी माया के प्रभाव से अनेक रूप 'दिखाई' देते हैं।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत

ठाकुर कहते हैं—मैं उनकी माया भी लेता हूँ तथा उनके अनेक रूपों को भी लेता हूँ। माया के प्रभाव से जो विविधता दिखाई देती है, उसे भी लेता हूँ तथा सारी विविधताओं से रहित जो अद्वयतत्त्व है, उसे भी लेता हूँ। यह है ठाकुर का भाव, उनका सर्वग्राही स्वरूप। 'सब नहीं लेने से तौल कम पड़ती है'—यह विशिष्टाद्वैतवाद की बात है। वे क्या केवल चैतन्य हैं? क्या वे जड़ नहीं हैं? जब जड़ भी हमारे अनुभव में वस्तु रूप में दिखाई दे रहा है, तब वे जड़ भी हैं। जो चिद्विशिष्ट हैं, वे ही अचिद्विशिष्ट हैं—यह विशिष्टाद्वैतवाद का सिद्धान्त है। अतः चिद्-विशिष्ट और अचिद्विशिष्ट इन दोनों को जब आत्म-स्वरूप जानकर गणना करनी होती है, तब इनमें से एक को छोड़कर लेने से आत्मा के पूर्ण स्वरूप का आख्यान नहीं हुआ। वह जाग्रत् नहीं है. स्वप्न और सुषुप्ति नहीं है, कहने से कुछ छूट गया। इसलिए ठाकुर कहते हैं, "मैं सब लेता हूँ, नहीं लेने से तौल कम पड़ जाती है।"

एक व्यक्ति प्रश्न करता है—"तौल क्यों कम पड़ती है ?" ठाकुर सहज भाव से विशिष्टाद्वैतवाद के तत्त्व को समझाते हैं. "ब्रह्म जीवजगत्विशिष्ट है। 'नेति नेति' करते समय जीव-जगत् को छोड़ देना होता है। जब तक अहंबुद्धि है, तब तक यही बोध होता है कि वे ही सब कुछ

हुए हैं, चौबीस तत्त्व वे ही हुए हैं।" विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म एक ही है, वह अपनी माया के द्वारा स्वयं को अनेक रूपों में प्रकट कर सकता है। जैसे एक वृक्ष, उसकी डाल, पत्ते, फूल, फल इत्यादि सब हैं, सबको मिलाकर वृक्ष है। वृक्ष के तने के भीतर भी वृक्ष है और फल, फूल, पत्तों के भीतर भी वृक्ष है। इसी प्रकार जगत्-विशिष्ट ब्रह्म तथा स्वप्न और सुषुप्ति-विशिष्ट ब्रह्म—इन सबको मिलाकर ही ब्रह्म की पूर्णता का अनुभव किया जाता है। इसीलिए एक को छोड़ देने से तौल कम पड़ जाती है।

इसके उत्तर में वेदान्तवादी कहते हैं, छोड़ देने से यदि तौल कम पड़ती है, तो रज्जु-सर्प के सर्प को छोड़ देने से रस्सी में क्या कमी आएगी ? जब देखा कि सर्प नहीं है, तो उससे रस्सी की सत्ता में क्या कमी आयी ? उसी प्रकार जीव-जगत् को छोड़ देने पर ब्रह्म में क्या कमी पड़ेगी ? वास्तव में यह सब है नहीं, इसीलिए मिथ्या कहा जाता है। जो नहीं है पर दिखाई देता है—जैसे साँप नहीं है पर साँप-जैसा दिखाई देता है—वह मिथ्या कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह शून्य है। एक ब्रह्म ही है। जिसे जगत् कहता हूँ, वह ब्रह्म है—'योऽयं स्थाणुः पुमानेषः'। दूर से देखने पर एक व्यक्ति वृक्ष के ठूँठ-जैसा दिखाई देता है। पास जाकर देखा कि एक व्यक्ति खड़ा है। जब यह अनुभव हुआ, तब जो मिथ्या अर्थात् आरोपित था, वह दूर हो गया; जो असल वस्तु थी, वह बच रही। अतः वेदान्तवादी कहते हैं—तौल कम नहीं पड़ती।

ठाकुर के विचार तथा विश्लेषण

तत्त्व का आस्वाद ठाकुर ने अनेक प्रकार से किया है, इसलिए कहते हैं, "तौल कम पड़ जाती है।" वे कहते हैं, "मैं केवल इस अद्वैतवाद के एक ढर्रे का क्यों होऊँगा ?" मैं तो अद्वैतरूप और चित्र-विचित्ररूप, दोनों का आस्वादन करूँगा। वे कहते हैं, "मैं सब खाऊँगा--खट्टा-मीठा, चरपरा, रसेदार--सब।" जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का आस्वादन करूँगा तथा तुरीय (यद्यपि वहाँ 'आस्वादन' शब्द प्रयोज्य नहीं है; फिर भी) का अनुभव भी मेरे आनन्द का विषय होगा। इसलिए 'नेति नेति' विचार करते समय जीव-जगत् को छोड़ दिया जाता है। इस 'नेति नेति' विचार के विना अद्वयतत्त्व तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए ब्रह्म जीव नहीं, जगत् नहीं, इस प्रकार छोड़ते हुए जब उस स्वरूप में पहुँचा, जब छोड़ने के लिए और कुछ नहीं बचा, तब समस्त आरोप-वर्जित उस अधिष्ठान का ज्ञान हुआ। उस अधिष्ठान-ज्ञान के बाद इस द्वैतराज्य में लौटकर साधक देखता है--जिसे मैंने 'एक' कहा था, वही अनेक है। तब अनेक के भीतर एक की निर्बाध अनुभूति होती है। अनुभव होता है कि जीव-जगत्-चौबीस तत्त्व सब कुछ वही है। बेल का सार कहने से वैसे तो बेल का गूदा समझा जाता है। छिलके, बीज को छोड़कर गूदे को कहा कि यह बेल है। लेकिन वजन जानने के लिए छिलका, बीज, गूदा सबको लेकर तौलना होगा। इसलिए ठाकुर कहते हैं, "जिसका गूदा है, उसी का बीज और छिलका है। जिसका नित्य, उसी की लीला है।"

जो नित्य रूप में एक अविभाज्य अद्वय तत्त्व है, वही लीला में हमारे सामने अनेक प्रतीत होता है। लीला इसलिए कहा जाता है कि बिना प्रयोजन वह अपने आपको अनेक रूपों में विभक्त करता है। वह अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से एक होकर भी अनेक हुआ है। 'एकोऽहं बहुस्याम्'--'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ।' उसके ऐसा सोचने का उद्देश्य क्या है?--कुछ भी नहीं। लीला का अर्थ ही है निष्प्रयोजन क्रिया। लीला में वही अद्वयतत्त्व माया के प्रभाव से स्वयं को अनेक रूपों में विभक्त करता है। 'माया' इसलिए कहा गया है कि वास्तविक वैचित्र्य न होते हुए भी वह उसके द्वारा वैचित्र्य दिखा सकता है। यह उसी प्रकार है, जैसे जादूगर अपनी शक्ति के प्रभाव से अनेक प्रकार के खेल दिखाता है। एक आम का बीज उसने बोया, पेड़ हो गया, फल लग गये, फल खिला दिया, लेकिन बाद में देखा गया कि कुछ भी नहीं है, वह सभी मिथ्या था, जादूगर की जादूगरी से हुआ था। भगवान् भी महान् जादूगर हैं, उनके जादू ने समस्त जगत् को मुग्ध करके रखा है। माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करके वे उसका विविध रूपों में आस्वादन करते हैं। वे ही जड़रूप हैं, और उस जड़रूप का अनुभवकर्ता जो चेतन है वह भी वे ही हैं। वे एक भी हैं और अनेक भी। वे ईश्वर हैं, और जीव-जगत् भी वे ही हैं। इस प्रकार सर्वत्र उनकी ही सत्ता है। ठाकुर ने कई बार कहा है, "जिनका नित्य, उन्हीं की लीला।" लीला से नित्य, नित्य से लीला। अब कह रहे हैं, जो राजा का पुत्र है, वह सातों ड्योढ़ी आना-जाना कर सकता है। उसके लिए कोई रोक-टोक नहीं है। नित्य से लीला में

आता है, फिर लीला से नित्य में जाता है—उसे कहीं भी भय नहीं है।

यह जो निर्भय अवस्था है, वेदान्तवादी भी इसी की बात कहता है। जब वह जगत् को देखता है, तब उसे बन्धन का भय नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टि में यह जगत् वास्तविक नहीं है, वह मानो कल्पना मात्र है। अद्वैतवादी की दृष्टि में जगत्-रूप में जो प्रतीति हो रही है, वह ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं है। इस ब्रह्मज्ञान पर प्रतिष्ठित होकर वह जगत् के वैचित्र्य से मोहित नहीं होता, महामाया की माया उसे मुग्ध नहीं कर पाती। वह इस माया के परदे को भेदकर स्वरूप में पहुँच जाता है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "मैं नित्य, लीला सभी लेता हूँ, माया कहकर संसार को उड़ा नहीं देता; ऐसा होने से तौल कम पड़ जाएगी।"

○

"धर्म को लेकर कभी विवाद न करो। धर्म सम्बन्धी सारे विवाद और झगड़े केवल यही दर्शाते हैं कि वहाँ आध्यात्मिकता का अभाव है। धर्म सम्बन्धी झगड़े सदैव खोखली और असार बातों पर ही होते हैं। जब पवित्रता—आध्यात्मिकता—आत्मा को छोडकर चली जाती है, तभी शुष्क झगड़े—विवाद आरम्भ होते हैं, उसके पूर्व नहीं।"

— **स्वामी विवेकानन्द**

श्री चैतन्य महाप्रभु (६)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं।—स०)

चतुर्थ अध्याय (१)

वैराग्य, संन्यास ग्रहण और नीलाचल गमन

पूरे देश (बंगाल) में हरिनाम की तरंगें उठ रही हैं, चारों ओर हरिनाम-संकीर्तन हो रहा है। लोगों के मुख से हरिनाम सुनकर भक्तों के आनन्द की सीमा नहीं है। निमाई के भाव में पुनः परिवर्तन आया। उन्होंने देखा कि लोग मुख से तो भगवान् का नाम लेते हैं, परन्तु चित्त में उनके प्रति अनुराग नहीं है। अधिकांश लोगों के हृदय में विषय-भोग की इच्छा और काम-कांचन के प्रति आसक्ति पूर्ववत् ही विद्यमान है। कीर्तन के समय अश्रु झरता है, प्रेम से शरीर धरती पर लोट जाता है, भाव भी होता है; परन्तु दूसरे ही क्षण पुनः वही विषय-तृष्णा, वही काम-कांचन का आकर्षण दीख पड़ता है।

लोगों के हृदय से विषयों के प्रति प्रबल आसक्ति को दूर करने के निमित्त निमाई उन्हें विवेक-वैराग्य की शिक्षा देने का उपाय सोचने लगे। उनके मन में आया, "लोग किसे देखकर सीखेंगे ? विशिष्ट भक्तों को। यह बात ठीक है कि उनके अन्तर में काम-कांचनासक्ति का लेश-मात्र भी नहीं है, परन्तु बाहर से वे लोग दारा-पुत्र-

धन-जन लेकर गृहस्थ ही बने हुए हैं।" स्वयं के बारे में सोचा, "मैं स्वयं भी तो इन विषयों द्वारा घिरा हुआ हूँ। मेरा रूप, यौवन, विद्या, बुद्धि, पत्नी, अगणित भक्तों की सेवा, मान, यश देखकर लोगों के मन में कैसे भाव का उदय होता होगा ? वे लोग अवश्य ही सोचते होंगे कि यह भगवान् को पुकारने और हरिनाम-संकीर्तन का फल है।"

इधर उनके शत्रुगण भी प्रचार करने लगे—"निमाई पण्डित बड़ा चालाक आदमी है। इन मूर्खों को ठगकर वह बड़े मजे में है; घर में युवती स्त्री है, धन-दौलत का भी कोई अभाव नहीं, अच्छी तरह खाता-पीता और मौज करता है।" क्रमशः ये सारी बातें कान में आने पर निमाई की चिन्ता बढ़ने लगी। वे तो संसार में रहकर भी असंसारी थे, उनके मन-प्राण भगवद्भाव में विभोर थे। विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न जिन क्षणभंगुर सुख-भोगों के लिए लोग लालायित रहा करते हैं, वे उनकी दृष्टि में अत्यन्त हेय एवं सर्व अनर्थों के मूल थे, उनका हृदय उन मोहपाशों से पूर्णतया विमुक्त था, फिर भी संसारी लोगों की दृष्टि में वे भी उन्हीं लोगों के समान ही संसारी थे। अतः विषयों के साथ यह वाह्य सम्पर्क भी पूर्णतया काट देने को निमाई का चित्त आकुल हो उठा। वे गहन चिन्तन में डूब गये। भक्तों के साथ उनके आनन्द-नृत्यगीत-कीर्तन में न्यूनता आती देख शचीदेवी के चित्त में असीम चिन्ता का उद्रेक हुआ। विष्णुप्रिया को भी मन ही मन रुलाई आ रही थी, परन्तु पतिदेव को प्रफुल्ल रखने के लिए वे अपने दुःख को छिपाकर रखने का प्रयास कर रही थीं। भक्त-

गण भी अत्यन्त दुःखी थे। काफी सोच-विचार के बाद निमाई ने संसाराश्रम के साथ——काम-कांचन के साथ—— सोलहों आने सम्बन्ध तोड़ने का निश्चय किया; निश्चय किया कि अब वे अपनी स्नेहमयी माता, पतिव्रता पत्नी तथा अनुगत भक्तों को छोड़कर सर्वतोभावेन भगवान् के पादपद्मों में आश्रय लेने हेतु संन्यासी होंगे; मस्तक मुण्डित कराकर, कौपीन धारण कर, दीन वेष में लोगों के द्वार-द्वार से भिक्षा माँगकर जीवन धारण करेंगे; नवद्वीप को त्यागकर प्रान्त-प्रान्त में, ग्राम-ग्राम में और घर-घर में हरिनाम का प्रचार करने को निकल पड़ेंगे। उन्हें लगा कि भगवान् के लिए स्वयं ही सर्वस्व का त्याग किये बिना लोगों को त्याग का उपदेश देना व्यर्थ है। पर माता, पत्नी और भक्तों को छोड़ने की कल्पना मात्र से, उनके दुःखों की बात सोचकर, निमाई का चित्त शोकमग्न हो उठा। उन लोगों के कोमल हृदय पर यह आघात कितना भीषण होगा, यह विचार करते हुए निमाई सिहर उठे। परन्तु दूसरे ही क्षण जब उन्हें धर्म की ग्लानि, समाज की दुरवस्था तथा लोगों के दुःख-दुर्दशा की बात पुनः याद आयी, तब गृह-त्याग करने को वे और भी व्याकुल हो उठे। उन्होंने देखा कि घर-गृहस्थी को त्यागने के सिवाय जीवों के उद्धार का एवं लोकशिक्षा का दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः माता, पत्नी एवं भक्तों का दुःख-कष्ट उनके पथ में बाधक न हो सका। जीवों का दुःख दूर करने के लिए वे अपने सगे-सम्बन्धियों एवं भोग-सुख की आशा को सदा-सर्वदा के लिए त्यागकर संन्यास-जीवन के दुःख-कष्टों एवं कठोरता का वरण करने को प्रस्तुत हुए।

नवद्वीप से थोड़ी दूर कटवा नगर में केशव भारती नाम के एक वृद्ध एवं ज्ञानी संन्यासी निवास करते थे। इन्हीं दिनों एक दिन वे नवद्वीप आये और भिक्षा के लिए मिश्र भवन के द्वार पर आ खड़े हुए। निमाई ने अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ उनका स्वागत करते हुए उन्हें आसन प्रदान किया। शचीदेवी तथा विष्णुप्रिया ने श्रद्धा एवं यत्नपूर्वक संन्यासी की भिक्षा की भलीभाँति व्यवस्था की। आहार के पश्चात् उनके विश्राम के समय निमाई ने बात-चीत के दौरान उनसे संन्यास के अधिकार तथा गृहस्थ के बारे में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। केशव भारती ने उन्हें इस विषय में शास्त्र का मत समझाते हुए कहा कि आप वृद्धा जननी के एकमात्र पुत्र हैं, पतिव्रता पत्नी ने भी अभी तक सन्तान का मुख नहीं देखा है। इस जगत् में आप ही उनके एकमात्र आधार हैं। आपकी अनुपस्थिति में उनके रक्षण तथा पालन-पोषण की सुव्यवस्था आवश्यक है, इसलिए उन लोगों की अनुमति लिये बिना संन्यास अवैधानिक होगा।

संसार-त्याग एवं संन्यास-ग्रहण के लिए माता एवं पत्नी की अनुमति आवश्यक है यह सुनकर भी निमाई अपने संकल्प से च्युत नहीं हुए और मन ही मन इसका उपाय सोचने लगे। उनके चाल-चलन तथा बातचीत से भी उनके अन्तर का तीव्र वैराग्य दिन पर दिन अधिका-धिक व्यक्त होने लगा। एक दिन सुयोग देखकर उन्होंने माँ के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की। निमाई का अनुरोध मानो बाण के समान शचीदेवी के हृदय में विद्ध हो गया और वे सिर पीटते हुए क्रन्दन करने लगीं। माँ का दुःख देखकर उनके हृदय में बड़ा कष्ट हुआ, फिर भी उन्होंने

अपना संकल्प नहीं छोड़ा। पहले तो निमाई ने सान्त्वना देकर और हार्दिक श्रद्धा-भक्ति दिखाकर माँ का मन शान्त किया, तदुपरान्त उन्होंने जगत् की अनित्यता, मानव-जीवन का कर्तव्य और भगवद्-भजन से परमानन्द की प्राप्ति आदि उच्च बातें कहना प्रारम्भ किया। तत्त्वज्ञान की चर्चा से दोनों का ही मन संसार के परे भगवद्-अनुभूति की ओर आकृष्ट हुआ।* माँ के चित्त को अनुकूल देख निमाई ने धीरे-धीरे जागतिक दुःख-कष्ट के परे जाकर अनन्त शान्ति प्राप्त करने की अपनी आकुल प्रार्थना व्यक्त की। पुत्र के मंगल की आशा में तथा उसके प्राणों की आकांक्षा मिटाने को शचीदेवी का चित्त भी व्यग्र हो उठा। विशेषकर संसार-बन्धन में रहने से निमाई का जीवन अत्यन्त कष्टकर हो उठा है यह सोचकर जननी के प्राण आकुल हो उठे कि न जाने बाद में निमाई की क्या गति हो! अब शचीदेवी स्थिर न रह सकीं। अपने सुख-दुःख

---

* तुम कौन हो, तुम्हारा पुत्र कौन है, कौन किसका पिता है? तेरा-मेरा करते हुए लोग व्यर्थ ही शोक करते रहते हैं। कौन नारी है, कौन पुरुष है और कौन किसका पति है? श्रीकृष्ण के चरणों के अतिरिक्त हम सबकी और कोई गति नहीं। वे ही हमारे एकमात्र माता-पिता, बन्धु, कर्ता, हर्ता और सम्पदा हैं। उन्हें छोड़कर यह सब कुछ—सारा जगत् मिथ्या है। पुत्र के रूप में तुम चाहे मुझसे कितना भी स्नेह क्यों न करो, परन्तु श्रीकृष्ण के चरणों में मुझे कितनी बड़ी उपलब्धि हो जाती। संसार की आरती करते हुए आदमी मृतप्राय हो जाता है और श्रीकृष्ण की आरती करने से भवसागर पार हो जाता। ('चैतन्य-मंगल')

की बात विस्मृत कर उन्होंने निमाई को संन्यास की अनुमति प्रदान कर दी। निमाई की प्रसन्नता की सीमा न रही, हर्षविभोर हो उन्होंने बारम्बार माँ के चरणों में प्रणाम किया और उनकी शुभाशिष ग्रहण की।*

विष्णुप्रिया देवी ने अभी कैशोर से यौवनावस्था में पदार्पण ही किया था और उनकी अवस्था तब मात्र चौदह वर्ष की थी। उन दिनों वे मायके गयी हुई थीं। वहाँ जब लोगों के मुख से उन्होंने अपने पतिदेव के संन्यास लेने की इच्छा सुनी, तो वे अविलम्ब ससुराल आ पहुँची। रात में भोजन के पश्चात् निमाई जब शयनकक्ष में विश्राम कर रहे थे, उसी समय अपने नयननीर से उनके चरणों को भिगोते हुए विष्णुप्रिया ने उनके समक्ष अपनी मनोव्यथा कही। पतिव्रता पत्नी के अन्तर के दुःख से अवगत हो निमाई का चित्त द्रवित तो हुआ, पर वे अपने संकल्प पर अडिग रहे। मृदु एवं स्नेहपूर्ण बातों के द्वारा उन्हें शान्त करने के उपरान्त वे विष्णुप्रिया को तत्त्वज्ञान

* इहलोक तथा परलोक में प्रेम ही अक्षय है। मेरे प्रति सहानुभूति है तो अनुमति देकर मेरा चित्त शान्त करो। दूसरों के पुत्र स्वर्ण-रजत लाते हैं, परन्तु व्यय करने से वह सब समाप्त हो जाता है, कुछ बच नहीं रहता। बड़े कष्ट उठाकर लोग धनोपार्जन करते हैं, पर कभी तो धन का ही नाश हो जाता है और कभी वे स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जिन श्रीकृष्ण के चरणों में समस्त सम्पद निहित है, मैं तुम्हें वह कृष्ण-प्रेमरूपी धन ला दूँगा। ('चैतन्यमंगल')

का उपदेश देने लगे।* पति के मुख से उच्च अध्यात्म तत्त्व—जीव-जगत् का स्वरूप, संसार की अनित्यता, विषय-भोग का दुःखपूर्ण परिणाम, भगवद्-आराधना से परमानन्द की प्राप्ति, प्रीति और मनुष्य-जीवन की सार्थकता आदि की बातें सुनते सुनते शचीदेवी के समान ही विष्णुप्रिया के अन्तर में भी विवेक-वैराग्य का उदय हुआ। पति के धर्मपथ में सहायक होना ही सहधर्मिणी का कर्तव्य है ऐसा समझकर उन्होंने संसार के क्षणभंगुर सुख-भोगों की आशा को सदा के लिए तिलांजलि दे

* जगत् में तुम जो कुछ भी देखती हो, वह सब कुछ मिथ्या समझना। पति, सुत, नारी, माता-पिता, सभी मिथ्या हैं। सोचो तो अन्त में कौन किसका होता है? श्रीकृष्ण के चरणों को छोड़कर अपना और कोई भी आत्मीय स्वजन नहीं है, बाकी जो कुछ देखती हो, वह सब उन्हीं की माया है। जितने भी नर-नारी दीख पड़ते हैं, उन सबमें बस एक ही आत्मा है, पर मिथ्या माया के कारण द्वित्व दिखाई पड़ता है। श्रीकृष्ण ही सबके पति हैं, बाकी सभी प्रकृति हैं—ऐसा क्यों नहीं सोचतीं? रक्त और रेतस् के संयोग से मल-मूत्र के स्थान से जन्म होता है और धरती पर पड़ते ही जीव अचेत हो जाता है। फिर बालक, युवा और वृद्ध होकर देह-गेह में अभिमान कर भाँति-भाँति के दुःख-कष्ट उठाता है। जिन्हें वह मित्र कहकर पालता है, वे ही लोग उसे गालियाँ देते हैं और वृद्ध होकर वह खिन्न होकर सबको कोसता है, कान और नेत्रों की शक्ति क्षीण हो जाती है, विषाद और चिन्ता में रोता रहता है, तो भी, हाय! वह गोविन्द को नहीं भजता। ('चैतन्यमंगल')

दी। तथापि अपनी वृद्धा सास की बात सोचकर विष्णु-प्रिया का चित्त उद्विग्न हो उठा और उन्होंने पतिदेव से प्रार्थना की कि वे अपनी वृद्धा माता के जीवित रहते तक घर में ही निवास करें। निमाई ने जब हँसते हुए माँ से अनुमति पा लेने की बात प्रकट की, तो विष्णु-प्रिया देवी के विस्मय की सीमा न रही। यथा माता तथा पुत्र! दोनों की ही इस अनित्य संसार में अनासक्ति की बात सोचकर उनका चित्त श्रद्धा एवं भक्ति से अभिभूत हो उठा। विष्णुप्रिया उनके पथ में बाधक तो न हुईं, परन्तु उन्होंने स्वयं भी गृह त्यागकर सीता के समान पति का अनुगमन करने की प्रबल आकांक्षा व्यक्त की। निमाई ने उन्हें संन्यास-जीवन के कठोर नियमों से अवगत कराया और बताया कि संन्यासी के लिए स्त्री का मुख देखना और उससे सम्पर्क रखना पूर्णतया निषिद्ध है; और मेरे न रहने पर तुम्हें ही रघुनाथ की सेवा-पूजा, वृद्धा माता की सेवा-शुश्रूषा, अतिथि-अभ्यागतों की सेवा-टहल और गृहस्थाश्रम का भार सँभालना होगा––आदि कहकर वे सहधर्मिणी को उसके कर्तव्य-पालन में उत्साहित करने लगे। सती के लिए पति का आदेश ही वेदवाक्य है। पतिव्रता विष्णुप्रिया ने पति के प्रेम में ऋणी हो उनके द्वारा न्यस्त गुरुभार शिरोधार्य किया। पत्नी की अनुमति पा निमाई का चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा। इसके बाद से वे जितने दिन भी घर में रहे, पत्नी को भी अपनी अध्यात्म-सम्पदा में भागीदार बनाने हेतु उपयुक्त शिक्षा प्रदान करने लगे।*

* संन्यास लेने के पूर्व ही निमाई ने अपनी पत्नी को मंत्र-दीक्षा दे दी थी।

उनके गृहत्याग का संकल्प भक्तों के लिए भी अज्ञात नहीं रहा। वे लोग अत्यन्त दुःखी हो वहाँ आये और वारम्बार प्रार्थना करने लगे कि आप हमें छोड़कर मत जाएँ। निमाई उन लोगों के दुःख से दुःखी तो हुए, परन्तु अपना संकल्प नहीं छोड़ा, बल्कि उन्हीं लोगों से अपने उद्देश्य में सिद्धि हेतु शुभेच्छा एवं आशीर्वाद की याचना करने लगे। इस प्रकार निमाई का संकल्प अटल रहा।

संन्यास की अनुमति देने के उपरान्त भी शचीदेवी ने पुत्र से अनुरोध किया था कि वे कुछ दिन और घर में रह जायँ। माँ का आदेश मानकर निमाई और भी कुछ काल घर में रहकर सुअवसर की प्रतीक्षा करने लगे। इस अवधि में वे पूर्ववत् ही भक्तों के साथ मिल-जुलकर भगवच्च्चर्चा एवं भजन-कीर्तन में भाग लेकर सबके चित्त को आनन्द प्रदान करते रहे। माँ तथा पत्नी की अनुमति पाकर निमाई के चित्त की उद्विग्नता थोड़ी शान्त हुई थी। अतः गृहत्याग के लिए हृदय की व्याकुलता में वृद्धि आने पर भी बाह्यतः वे पहले के समान ही सदानन्द, सुरसिक तथा भक्तों के चित्तविमोहक दीख पड़ते थे।

यद्यपि स्नेहमयी जननी तथा पतिव्रता पत्नी ने उन्हें सुखी करने हेतु संन्यास की अनुमति दे दी थी, पर निमाई समझते थे कि उन लोगों के देखते-देखते उन्हें छोड़कर चले जाना सम्भव नहीं है। विदाई के अवसर पर उन दोनों के हृदय को कितना भीषण आघात पहुँचेगा और शोक का वेग सहन न कर पाने के फलस्वरूप उनकी कैसी शोचनीय अवस्था हो जाएगी, यह सोचकर निमाई को बड़ी चिन्ता हुई। वे विचार करने लगे कि वह मर्मान्तक दृश्य देखकर कहीं मेरे ही मन में तो दुर्बलता न आ जाएगी? फिर

अनुरागी भक्तगण भी हैं, जिनके भक्ति-स्नेह के बन्धन को तोड़ पाना सहज नहीं होगा। निमाई ने बिना किसी को बताये, गोपनीयतापूर्वक ही गृहत्याग करने का निश्चय किया। आखिर चिरकाल से लोग इसी प्रकार तो संन्यासी होते आये हैं। सगे-सम्बन्धियों को प्रत्यक्ष रूप से समझा-बुझाकर भला कौन घर-बार छोड़ सकता है ! निमाई को तब चौबीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा था। जाड़े का मौसम था, माघ का महीना समाप्त होने को था, एक शुभ दिन देखकर निमाई ने अपना संकल्प पूरा करने का निश्चय किया।

कल संक्रान्ति है, सूर्यदेव मकरराशि से कुम्भराशि में प्रवेश कर रहे हैं, अतः वह अत्यन्त शुभ दिन है। गहन रात में शय्या त्यागकर निमाई चुपचाप कमरे से बाहर निकले। फिर निद्रामग्न माँ को बारम्बार साष्टांग प्रणाम किया और उनके शयनकक्ष की प्रदक्षिणा करके मन ही मन अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए उन्होंने विदा ली। मिश्र-परिवार के गृहदेवता रघुनाथ थे और घर के सभी लोग उनके आश्रित सेवक थे। रघुनाथ के मन्दिर के द्वार के सम्मुख निमाई ने दण्डवत् प्रणाम किया और संन्यास की अनुमति तथा आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की। तदुपरान्त अपनी वृद्धा माता एवं युवा पत्नी की रक्षा का भार उनके पादपद्मों में सौंपकर अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगकर अश्रुपूर्ण नयनों के साथ हाथ जोड़े उन्होंने मन्दिर की प्रदक्षिणा की। भक्तिभाव से निमाई का चित्त विह्वल था, तथापि अपने शोक का संवरण करते हुए उन्होंने पुनः रघुनाथ को प्रणाम किया और अत्यन्त सावधानीपूर्वक घर के बाहर निकले तथा द्वार पर आकर जन्मभूमि को प्रणाम करने के पश्चात्

पथ पर पहुँचकर तीव्र गति से दौड़ते हुए चल पड़े। उनके अंग पर मात्र एक वस्त्र और मुख में श्रीभगवान् का मधुर नाम था। जाड़े के दिन थे, तथापि बिना किसी दुविधा के वे तैरकर गंगा पार हुए और गीले वस्त्र में ही दौड़ते हुए प्रातःकाल तक कटवा में श्रीमत् स्वामी केशवभारतीजी महाराज के आश्रम में जा पहुँचे।

प्रभात के समय गीले वस्त्र में निमाई को दण्डायमान देख भारती महाराज के विस्मय की सीमा न रही। निमाई ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर संन्यास के लिए प्रार्थना की। आज निमाई को देख मोह-मुक्त वृद्ध संन्यासी का हृदय भी सदय हो उठा। उनके परिवार की अवस्था को सोच वे उन्हें संन्यास देने को सहमत नहीं हुए। भारतीजी निमाई को तरह-तरह से समझा-बुझाकर एवं सान्त्वना देकर घर लौटाने का प्रयास करने लगे, परन्तु निमाई टस से मस न हुए। वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहकर दीन स्वर में बारम्बार भारतीजी से प्रार्थना करने लगे, "स्वामीजी! कृपा करके मेरा संसार-पाश छिन्न कर दीजिए, मुझे भव-बन्धन से मुक्त कर दीजिए।" भारतीजी ने कहा, "तुम वृद्धा माता के एकमात्र पुत्र हो, घर में बालिका वधू है, अब तक उसने सन्तान का मुख नहीं देखा। तुम्हारी आयु भी अभी अल्प है, अभी तो तुमने यौवन में पदार्पण मात्र किया है; घर लौटकर गृहस्थाश्रम के कर्तव्य का पालन करो। पुत्र का जन्म होने पर उसे शिक्षा आदि देकर सुयोग्य बनाना। फिर वय हो जाने पर उसे अपनी गृहस्थी का भार सौंपकर संन्यासी हो जाना।" निमाई ने विनीत पर दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "प्रभो! अब

संसार का सम्पर्क मुझसे एक क्षण के लिए भी सहन नहीं होता। मृत्यु तो काल और अकाल की परवाह नहीं करती। शास्त्र का उपदेश है कि जब भी अन्तर में वैराग्य का उदय हो, तभी प्रव्रज्या ले लेनी चाहिए।" निमाई के संकल्प की दृढ़ता एवं संन्यास के लिए उनके चित्त की आकुलता देखकर सभी आश्रमवासी अवाक् रह गये और केशव भारती का मन भी प्रसन्न हुआ। भारती महाराज ने आशीर्वाद करते हुए निमाई को संन्यास की अनुमति प्रदान की और प्राथमिक कृत्य, मुण्डन और आत्मश्राद्ध आदि कार्य सुसम्पन्न करने का आदेश दिया। हर्षित चित्त से निमाई ने उन्हें बारम्बार प्रणाम किया और अपने अभीष्ट साधन में प्रवृत्त हुए।

भारतीजी के आश्रम के समीप ही मधु नाई का घर था। इस आश्रम में जो कोई संन्यास लेता, मधु ही उसका मुण्डन किया करता था। अनेक लोगों का मुण्डन करने के कारण उसका हृदय भी बड़ा कठोर हो गया था। परन्तु आज प्रातःकाल जब निमाई अपना मुण्डन कराने आये, तो उन्हें देखकर मधु का कठोर हृदय भी कोमल हो उठा। मधु ने विनयपूर्वक निमाई से कहा, "महाराज, मुझे क्षमा करें। आपकी अल्प वय और इतना सुन्दर रूप! आपका मुण्डन करके मैं आपको पथ का भिखारी नहीं बना सकता। आपके पाँव पड़ता हूँ, आप घर लौट जाएँ।" परन्तु निमाई नहीं लौटे और मधुर वाणी में मधु से बोले, "भाई, मेरे प्रति निष्ठुरता न दिखाओ! मैं अति दीन-हीन हूँ, मुझ पर दया करो। तुम दया करके मुझे भगवत्पथ का पथिक बना दो।"

निमाई ने त्याग-वैराग्य का माहात्म्य, जगत् की अनित्यता, विषय-भोग का दु:खमय परिणाम, मानव-जीवन का कर्तव्य, भगवान् के पादपद्मों में ही परमानन्द और संन्यास-ग्रहण की नितान्त आवश्यकता आदि बातें मधु को समझाकर उसे मुग्ध कर लिया और व्याकुल होकर मुण्डन कर देने का अनुरोध करने लगे। अन्तत: मधु सहमत हुआ और अपने अश्रु पोंछकर उनका मुण्डन करने लगा। तत्पश्चात् प्रफुल्ल चित्त से निमाई ने गंगाजी में स्नान किया और भारतीजी के सम्मुख आकर प्रणत हुए। मुण्डितमस्तक निमाई के रूप की अपूर्व शोभा देख भारतीजी का चित्त अतीव उल्लसित हुआ। निमाई का मुण्डन करने के बाद, अपनी आँखों के अश्रु पोंछते हुए मधु ने अपना उस्तरा गंगाजी में विसर्जित कर दिया और मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली कि अब ऐसा कार्य जीवन में फिर कभी नहीं करूँगा।

(क्रमश:)

○

मानस-रोग (११/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानसरोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके ग्यारहवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

भक्तशिरोमणि काकभुशुण्डिजी से रामकथा सुनने के पश्चात् गरुड़जी उनसे सात प्रश्न करते हैं, जिनमें सातवें प्रश्न के रूप में वे पूछते हैं—

मानस रोग कहहु समुझाई।
तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई ।।७।१२०।७

अपने इस सातवें प्रश्न में गरुड़जी काकभुशुण्डिजी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'तुम्ह सर्बग्य'—आप तो सब जानते हैं। इसका एक तात्पर्य तो यह हो सकता है कि भुशुण्डिजी में योग की सर्वज्ञता है, क्योंकि वे एक महान् योगी हैं। लेकिन यहाँ पर गरुड़ का संकेत दूसरा है। जैसे किसी व्यक्ति को स्वयं रोग की अनुभूति हो और औषध के द्वारा रोग से छुटकारा पा लेता हो ऐसी दशा में वह बड़े विश्वास से दूसरों से कह सकता है कि यह रोग होने पर मैंने इस दवा का सेवन किया और उससे मुझे लाभ हुआ, और इस प्रकार वह दूसरों को भी प्रेरित कर सकता है कि वे भी उस औषध से लाभ उठावें। तो, भुशुण्डिजी की विशेषता यह है कि भले ही वे इस समय वैद्य हैं, पर पहले वे भी रोगी थे और उन्होंने अगणित जन्म लिये। उन जन्मों में उन्होंने अगणित मानस-

रोगों का अनुभव किया और उन्हीं का वर्णन गरुड़ के समक्ष विस्तार से किया। इस प्रकार उनकी सर्वज्ञता योगजन्य होने के साथ-साथ अनुभूतिजन्य भी है। काकभुशुण्डि कहते हैं—

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं।
मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ।।
देखेउँ करि सब करम गोसाईं।
सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं ।।७।९५।८-९

—ऐसी कोई योनि नहीं थी, जिसमें मैंने शरीर ग्रहण न किया हो, जहाँ के सुख-दुःखों का मैंने अनुभव न किया हो। और आज मैं यह कह सकता हूँ कि मेरे इस जीवन में समग्र सुख और शान्ति का उदय हुआ है।

तो, काकभुशुण्डि का जीवन अनुभूतियों का भण्डार है। उन्होंने गरुड़जी को जो आत्मकथा सुनायी, वह आत्मप्रशंसा के रूप में नहीं, अपितु आत्मविश्लेषण के रूप में। यही उनके कथा कहने की विलक्षणता है। कहीं तो आत्मकथा का उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति अपने प्रति दूसरे के मन में गौरव की वृद्धि करना चाहता है और कहीं यह कि वह आत्मविश्लेषण करता हुआ, अपनी कमियों की ओर ध्यान दिलाता हुआ दूसरों को उनसे बचने की प्रेरणा देता है। काकभुशुण्डिजी दूसरी पद्धति से कथा कहते हैं। उन्होंने जिन मानस-रोगों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ का उन्होंने स्वयं बड़ी तीव्रता से अनुभव किया है। उन्होंने आगे चलकर जो यह कहा कि—

अहंकार अति दुखद डमरुआ (७।१२०।३५)

—तो यह उन्होंने अपनी अनुभूति की ही बात कही। उनके इस तीव्र अहंकार ने कैसी समस्याएँ उत्पन्न कीं, इसका

उन्होंने बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। तो, जिस व्यक्ति ने ऐसा अनुभव जीवन में पाया हो, जिसने रोग की अनुभूति के बाद स्वस्थता का अनुभव किया हो, उसकी अनुभूति दूसरों के लिए जितनी प्रेरक बनेगी, उतनी उस वैद्य की बात नहीं, जिसे रोग का अनुभव न हुआ हो।

कल आपके सामने जो प्रसंग चल रहा था, आइए उसे हम आगे बढ़ाएँ। काकभुशुण्डिजी ने रोगों का मूल कारण मोह को बताया। जाने हुए सत्य की उपेक्षा करने की जो वृत्ति है, वह मोह है और यह मोह अभ्यास से उत्पन्न हुआ है, जो केवल इसी जन्म से सम्बद्ध नहीं है, अपितु अगणित पूर्व-पूर्व जन्मों से बनता चला आया है। जैसे कई बार कुछ लोगों का अभ्यास बन जाता है मुँह में उँगली डालकर चबाने का। वे यह जानते तो हैं कि ऐसा करना ठीक नहीं, लेकिन जब भी वे कुछ सोचते रहते हैं, तो अनजाने में, बिना प्रयास के, उनका अभ्यास उन पर हावी हो जाता है और वे अभ्यास से प्रेरित हो वही कार्य करने लगते हैं, जिन्हें वे बुरा समझते हैं। जब व्यक्ति के इसी जीवन में पड़नेवाले दुर्गुण के अभ्यास का छूटना इतना कठिन होता है, तब अगणित जन्मों से जो अभ्यास बना चला आ रहा है, उसका छूटना कितना कठिन न होगा इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। ये अभ्यास संस्कार के रूप में चित्त में संग्रहित रहते हैं, इसलिए अनुकूल परिस्थिति पाने से अंकुरित होते रहते हैं। रावण के प्रसंग में इसी का संकेत किया गया है। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में रावण को मूर्तिमान् मोह बताते हैं—

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहँकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी । (५८)

गोस्वामीजी के इस कथन का एक आध्यात्मिक तात्पर्य है । जब भगवान् श्री राघवेन्द्र रावण के दस सिर और बीस भुजाओं को अपने तीस बाणों के द्वारा काट देते हैं, तो अगले ही क्षण अद्भुत दृश्य दिखाई देता है, वह यह कि रावण के नये सिर और नयी भुजाएँ निकल आती हैं । श्री राम बारम्बार उसके सिर और भुजाओं को काटते हैं और उतनी ही बार रावण के नये सिर और भुजाएँ पैदा हो जाती हैं । लंका का रणक्षेत्र रावण के इन कटे हुए सिरों और भुजाओं से पट जाता है । इस प्रकार रावण को मारने की चेष्टा करने पर भी जब भगवान् श्री राघवेन्द्र उसका वध नहीं कर पाते—कम से कम लोगों के सामने तो यही दिखाई देता है—तब वे विभीषण की ओर देखते हैं । इस प्रसंग को जब शंकरजी ने पार्वतीजी को सुनाया, तो उन्हें यह सोच बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर रावण का वध नहीं कर सकते थे ? पर यह प्रश्न मात्र उसी प्रसंग के सन्दर्भ में नहीं है, अपितु वह तो हम सबके जीवन से जुड़ा हुआ है । जब यह कहा जाता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं और व्यक्ति के हृदय में बैठे हुए हैं, तो ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वे जीवन की बुराइयों को मिटा क्यों नहीं पा रहे हैं ? ईश्वर के होते हुए भी हमारे दुर्गुण ज्यों के त्यों क्यों बने हुए हैं ? रावण के उक्त प्रसंग में इस प्रश्न का सार्थक उत्तर दिया गया है । इसको सूत्र के रूप में यों कहें कि योग्य से योग्य वैद्य भी रोगी को तब तक स्वस्थ नहीं कर सकता, जब तक कि रोगी स्वयं वैद्य को सहयोग न

दे। यदि रोगी वैद्य के आदेश का पालन करे, वैद्य की दी हुई औषध और पथ्य का सेवन करे, तभी वह स्वस्थ हो सकता है। पर यदि वैद्यराज ऊँची से ऊँची दवा देकर, पथ्य बताकर चले जायँ और रोगी उस पुड़िया को फेंक दे तथा जिन वस्तुओं को वैद्य ने खाने के लिए मना किया हो उन्हें खाने की चेष्टा करे, तब वैद्य की उच्च से उच्च योग्यता भी उस रोगी को भला कैसे स्वस्थ कर सकती है? इसी प्रकार ईश्वर चाहे जितने बड़े वैद्य हों, पर जब तक रोगी के रूप में यह जीव उनको सहयोग नहीं देगा, तब तक उनकी सर्वशक्तिमत्ता सफल नहीं हो सकती। यहाँ पर भी संकेत यही है। विभीषण स्वयं जीव के प्रतीक हैं। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं—

जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण
बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता (५८)

—विभीषण जीव हैं और रावण मूर्तिमान् मोह है। जब चेष्टा करने पर भी मोह नष्ट नहीं होता, तब भगवान् श्री राघवेन्द्र जीव से सहायता की याचना करते हैं। वे जीव से पूछते हैं—क्यों? बहुत से ऐसे विषय होते हैं, जिनमें वैद्य को रोगी से बड़ी प्रेरणा मिलती है। रोगी को अपनी प्रकृति के, अपने स्वयं के विषय में जितनी अनुभूति है, उतनी वैद्य को नहीं है। अतः जब रोगी अपनी पूरी प्रकृति, अपनी समस्त समस्याओं को वैद्य के सामने रखता है, तभी वैद्य ठीक ठीक दवाओं की व्यवस्था कर उसकी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ होता है। तो, जब भगवान् श्री राघवेन्द्र विभीषण की ओर देखते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि रोगी का

विनाश तब तक नहीं होगा, जब तक जीव स्वयं सहायक नहीं बनेगा, जब तक वह स्वयं मोह को नहीं मिटाना चाहेगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि वैसे तो—

उमा काल मर जाकीं ईछा (६।१०१।३)

——ईश्वर की इच्छा मात्र से काल भी मर सकता है, फिर भी वे देखना चाहते हैं कि जीव इसमें कितना सहयोग देता है। इसलिए श्री राघवेन्द्र विभीषण की ओर देखते हैं—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसषा।
राम बिभीषन तन तब देखा ।। (६।१०१।२)

और विभीषणजी उस रहस्य को जानते हैं कि रावण की मृत्यु क्यों नहीं हो रही है, उसके नये सिर और नयी भुजाएँ क्यों निकल रही हैं। गोस्वामीजी द्वारा प्रदत्त सूत्र बड़े महत्त्व का है। काकभुशुण्डिजी कहते हैं——

'नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।' (७।१२१ख)

अब इनको चाहे मानस-रोगों के सन्दर्भ में औषध कह लीजिए, चाहे लंका के राक्षसों क सन्दर्भ में बाण। यदि मोह राक्षस है, तो बाण चलाया जाता है और यदि मोह रोगों का मूल है, तो औषध दी जाती है। लेकिन मोह ऐसा है कि बहुत सी औषधियाँ देने पर भी वह विनष्ट नहीं होता। बहुत सी औषधियों का प्रयोग करने पर भी मनुष्य के दुर्गुणों का विनाश नहीं होता है। वैसे तो साधारणतः यदि किसी के शरीर पर प्रहार किया जाय या उसका सिर काट दिया जाय, तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाएगी। पर रावण के साथ यह समस्या है कि सिर और भुजा के साथ-साथ जब तक उसकी नाभि पर भी प्रहार नहीं किया जाएगा, वह नहीं मरेगा। यह नाभि वस्तुतः

चित्त का मूल-केन्द्र है। यहीं पर पूर्व-पूर्व जन्मों के संस्कार संग्रहित रहते हैं। सृष्टि के सृजन की प्रक्रिया में नाभि को बड़ा महत्त्व दिया गया है। कहा जाता है कि सृष्टि का सृजन ब्रह्मा द्वारा होता है और ब्रह्मा का जन्म कमल पर, जो भगवान् विष्णु की नाभि से निकलता है। तो, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि। इसका क्या तात्पर्य हुआ? यही कि सृष्टि करते समय ब्रह्मा मनमानी नहीं करते, किसी को सुन्दर या किसी को कुरूप नहीं बनाते, अपनी ओर से सृष्टि में भेद उत्पन्न नहीं करते, अपितु भेद के बीज कमल में ही रहते हैं, जिसमें से उनकी भी उत्पत्ति होती है। सृष्टितत्त्व में बताया गया है कि प्रलय-काल में यह विराट् ब्रह्माण्ड भगवान् के उदर में सो जाता है। वस्तुओं के स्थूल रूप तो मिट जाते हैं, पर वे संस्कार के रूप में ईश्वर के उदर में समाहित रहते हैं। जब तक ईश्वर सुषुप्त हैं, निष्क्रिय हैं, तब तक वे संस्कार भी सुप्त रहते हैं, दिखाई नहीं देते। जैसे हमारे जीवन में होता है। जब हम गहरी नींद में होते हैं, उस समय हमारे अभ्यासजन्य संस्कार सक्रिय नहीं दिखाई देते। लेकिन जैसे ही नींद खुलती है वे सक्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार से जब प्रलय होता है तो व्यक्ति केवल संस्कार के रूप में जीवित रहता है, वह ईश्वर के उदर में समाया रहता है। सृष्टिकाल में उस नाभि से, संस्कारों के उस मूल-केन्द्र से सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यहाँ पर कहा गया है कि रावण की नाभि में अमृतकुण्ड है। तात्पर्य यह है कि रावण की नाभि में पूर्व-पूर्व जन्मों के चित्तगत संस्कार पड़े हुए हैं।

मोह की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि अन्य रोग तो मन में होते हैं, पर मोह का निवास चित्त में होता है। इसलिए मन की ओषधि करने पर भी चित्तगत दोषों का नाश नहीं होता है। अतएव चित्तगत दोषों को मिटाने के लिए वैराग्य का अभ्यास ओषधि के रूप में दिग्दर्शित हुआ है। काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई।
जब उर बल बिराग अधिकाई ।। (७।१२१।९)

—मन को तब नीरोग हुआ जानना चाहिए, जब हृदय में वैराग्य का बल बढ़ जाय। तात्पर्य यह कि चित्तगत, संस्कारगत मोह को काटने के लिए तीव्र वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसीलिए महापुरुष लोग साधना-क्रम में अभ्यास पर बल देते हैं। पुराने प्रतिकूल संस्कारों को काटने के लिए अभ्यास के द्वारा चित्त में नये अनुकूल संस्कार पैदा करने होते हैं। पुराने संस्कारों को काटने के लिए 'रामचरितमानस' में सूत्र दिया गया है—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ।। (७/६१)

—सत्संग से, बार-बार सन्त का संग करने से वैराग्य और भक्ति के संस्कार तीव्र होते हैं और पुराने संस्कार समाप्त होते हैं। मानस-रोगों से मुक्ति पाने का यही उपाय है।

यह तो मानस-रोगों से मुक्ति के सन्दर्भ की बात हुई, पर पहले मानस-रोगों का जो विचित्र रूप है, उस पर थोड़ा विचार करें। एक रोगी केवल अपने लिए ही समस्या नहीं होता, वह दूसरों के लिए भी समस्या खड़ी

करता है। रोगी स्वयं तो अस्वस्थ होता ही है, दुःख पाता ही है, साथ ही परिवार के लोगों को भी चिन्ता में डाल देता है। और कहीं रोग यदि छूतवाला हुआ, तब तो वह केवल चिन्ता ही नहीं, रोग भी बाँटता है। शरीर के सन्दर्भ में तो कुछ ही रोग ऐसे होते हैं, जो छूत से होते हैं और शेष रोग छूतजन्य नहीं होते, लेकिन मानस-रोगों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सारे के सारे रोग छूत से फैलते हैं। जो व्यक्ति मन से रोगी होता है, वह परिवार को और समाज को भी रोगी बना देता है। इसलिए मन के रोग के स्वरूप को समझकर उसे मूल से नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि गोस्वामीजी आयुर्वेद की पद्धति से मन के रोगों को समझाते हैं। आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि इस शरीर की रचना में कफ, वात और पित्त इन तीन धातुओं का महत्त्व है, जो व्यक्ति को चैतन्य बनाये रखते हैं। जब तक ये सन्तुलित रूप से विद्यमान रहते हैं, तब तक तो व्यक्ति स्वस्थता का अनुभव करता है, पर ज्योंही इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, वह अस्वस्थ हो जाता है। इसी प्रकार मन में भी काम, क्रोध और लोभरूप वात, पित्त और कफ हैं। पिछले वर्ष काम और लोभ की चर्चा की गयी थी, अब हम थोड़ा क्रोध के सन्दर्भ में विचार करेंगे। यदि हम शरीर को देखें तो वात और कफ की भूमिका के साथ पित्त की भूमिका भी बड़े महत्त्व की है। यदि व्यक्ति के शरीर में पित्त सर्वथा समाप्त हो जाय, तो पाचन की प्रक्रिया नष्ट हो जाएगी। यह पित्त पाचन की प्रक्रिया को सक्रिय करता है। वात समस्त धातुओं को प्रेरित करके चलाता है और कफ

व्यक्ति के शरीर में बल संचारित करता है। इसी प्रकार मनुष्य का मन भी काम, क्रोध और लोभ से परिचालित होता है। यदि व्यक्ति के मन में काम न हो, तो यह आशंका बन सकती है कि व्यक्ति कहीं निष्क्रिय न हो जाय। यदि लोभ के माध्यम से समाज में धन संग्रहित न हो, तो परिणाम यह होगा कि समाज निर्धन हो जाएगा। दरिद्रता के विनाश के लिए या अन्य मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए जिस धन की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति लोभ के द्वारा होती है। इस प्रकार काम और क्रोध के द्वारा समाज में सृष्टि का और उसे गतिशील बनाने का कार्य सम्पन्न होता है। इनके साथ क्रोध के रूप में यह जो पित्त है, उसका भी अपना मौलिक महत्त्व है। उसके अभाव में भोजन ज्यों का त्यों बना रहेगा, जिससे शरीर शक्तिशाली नहीं बन पाएगा। पित्त अग्नि के रूप में भोजन को जलाकर ऐसी ईंधनशक्ति के रूप में परिणत कर देता है, जिससे शरीर को अपने संचालन के लिए आवश्यक रसों की प्राप्ति होती है। पर जब यही पित्त शरीर में अधिक बनने लगता है, तो वह अन्न को भस्मीभूत करने के स्थान पर व्यक्ति के हृदय को ही जलाने लगता है। क्रोध की प्रक्रिया भी ठीक ऐसी ही है। वैसे काम और लोभ की तुलना में क्रोध की विचित्रता पर लोगों का ध्यान कम जाता है। साधारणतया व्यक्ति काम को सबसे बड़ी बुराई के रूप में देखता है। यदि किसी व्यक्ति में काम का अतिरेक हो जाए, तो उसे अनाचारी कहकर समाज उसका तिरस्कार करता है। वैसे ही यदि किसी व्यक्ति के जीवन में लोभ अधिक हो, तो उसे भी लोग समादर देना पसन्द नहीं करते। पर क्रोध के प्रति हमारी उपेक्षा की, हमारी

सजगता की वृत्ति उतनी नहीं होती, तथापि जीवन में व्यक्ति जिसका प्रतिक्षण अनुभव करता है, वह क्रोध है। रामायण में एक बढ़िया उपमा दी गयी है, उसमें भी यही संकेत है। भगवान् राम काम की तुलना तो सर्प से करते हैं और क्रोध की, अग्नि से। यह प्रसंग अरण्यकाण्ड के अन्त में आता है। भगवान् राम जनकनन्दिनी सीता को खोजते हुए विलाप कर रहे हैं, उस समय देवर्षि नारद उनसे मिलने आते हैं। ऐसे समय में वे भगवान् राम से एक प्रश्न कर देते हैं——

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।।(३।४२।३)

——महाराज, जब मैंने विवाह करना चाहा, तो आपने क्यों नहीं करने दिया ? नारद का प्रश्न विचित्र संकेतों से भरा हुआ है। भगवान् राम अपनी पत्नी के वियोग में विलाप कर रहे हैं। होना तो यह चाहिए कि हमें दूसरे को उस काम से रोकना चाहिए, जो हम स्वयं न करते हों। पर यह एक विचित्र विरोधाभास हो जाता है कि व्यक्ति स्वयं तो पत्नी में इतना आसक्त हो कि विरह में विलाप करे और दूसरे व्यक्ति को विवाह न करने दे! नारद का संकेत यह था कि या तो आप भी विवाह न करते, जिससे मैं समझ लेता कि आपने स्वयं भी विवाह नहीं किया, इसलिए मेरा भी नहीं होने दिया, या फिर आप जब स्वयं विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तो मेरा भी विवाह हो जाने देते। इसके अतिरिक्त नारद का तात्पर्य यह भी था कि महाराज, मैंने ऐसा तो नहीं सुना कि संसार में जितने विवाह होते हैं, उनमें आप बाधा देते हों। यदि ऐसा

होता तो मैं सन्तुष्ट हो जाता कि आप सम हैं और सबके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं—जिसके भी मन में विवाह की इच्छा उठती है, उसका आप विवाह नहीं होने देते हैं। पर ऐसा तो है नहीं। संसार में असंख्य विवाह हर वर्ष हो रहे हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पड़ती। तब विशेष रूप से आपने मुझे ही क्यों चुना? इस पर भगवान् श्री राघवेन्द्र ने यह कहा कि माँ के ऊपर छोटे बच्चे का जितना भार होता है, उतना बड़ों का नहीं होता। माँ बड़े लड़कों के पीछे नहीं चलती, मानो वह उनको स्वतंत्र कर देती है कि वे अपने विवेक से निर्णय करें। लेकिन माँ जो सुविधा अपने बड़े पुत्रों को देती है, वह अपने नन्हें बालक को नहीं देती, उसे उसके विवेक पर नहीं छोड़ती; क्योंकि वह जानती है कि इसके विवेक नहीं है, इसमें तो समर्पण की प्रधानता है। विवेक के स्थान पर जहाँ समर्पण की प्रधानता है, वहाँ समर्पित बालक की सारी चिन्ता का भार माँ के ऊपर है।

ऐसा पूछा जाता है कि क्या ये दुर्गुण कुछ व्यक्तियों में होते हैं और कुछ में नहीं? इसका उत्तर रामायण में यह कहकर दिया गया है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसमें अवगुण न हों। क्या ऐसा कोई व्यक्ति हो सकता है, जिसके शरीर में कफ-वात-पित्त बिलकुल न हों? यदि कोई है तो वह मृत होगा, जीवित नहीं। जीवित व्यक्ति में कफ, वात, पित्त होंगे ही। व्यक्ति का निर्माण ही ऐसी सृष्टि में हुआ है, जो गुण-दोषों के मिश्रण से बनी है। गुण के साथ दोष विद्यमान होते ही हैं। समस्या तब होती है, जब दोष असन्तुलित हो गुणों पर अधिकार कर लेते हैं। हमें इस सन्दर्भ में भगवान् श्री राम के उत्तर को

देखना चाहिए, जो उन्होंने नारद के प्रश्न का दिया है । वे कहते हैं कि ज्ञानी और भक्त मेरे दो पुत्र हैं और दोनों के सामने काम-क्रोध की समस्या आती है—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।
बालक सुत सम दास अमानी ।। ३।४२।८
दुहु कहँ काम-क्रोध रिपु आही । ३।४२।९

—ज्ञानी मेरे सयाने पुत्र के समान है और अपने बल का मान न करनेवाला सेवक मेरे नन्हे शिशु के जैसा है, पर काम-क्रोधरूपी शत्रु तो दोनों के लिए हैं। जब ज्ञानी के सामने काम-क्रोध की समस्या आती है, तो वह अपनी क्षमता के द्वारा उसका समाधान करता है। भगवान् का यहाँ पर शंकरजी की ओर संकेत था । शंकरजी महान् तत्त्वज्ञ हैं, परिपूर्ण हैं, अतः जब काम उन पर आक्रमण करता है, तो वे अपनी योग-क्षमता का प्रयोग कर काम पर विजय प्राप्त करते हैं । भगवान् का संकेत यह था कि शिव भी काम के विजेता हैं, पर उन्होंने काम पर अपने बल से विजय प्राप्त की। पर नारद, तुम तो नन्हे बालक हो और नन्हे बालक की समस्या का समाधान करना माँ का कार्य है। वहाँ पर काम-क्रोध की तुलना के लिए दो उपमाएँ दी गयीं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई।।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता ।
प्रीति करइ नहिं पाछिल बाता ।। ३।४२।६-७

—छोटा बच्चा जब दौड़कर आग और साँप को पकड़ने जाता है, तो वहाँ माता उसे अपने हाथों से अलग

करके बचा लेती है। सयाना हो जाने पर उस पुत्र पर माता प्रेम तो करती है, परन्तु पिछली बात नहीं रहती। यहाँ पर सर्प की तुलना काम से की गयी है और अग्नि की, क्रोध से। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सर्प से जितना डरता है, आग से उतना नहीं डरता, क्योंकि उसे लगता है कि सर्प न जाने कब अँधेरे में से निकलकर उसे डस ले। आग तो छिपी नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। घर में नित्य उसका प्रयोग होता है, इसलिए अग्नि को हम निकट से देखने के इतने अभ्यस्त हैं कि उससे सर्प के समान भय नहीं लगता। पर सच्चाई तो यह है कि अग्नि भी सर्प के समान घातक है। जैसे सर्प के डसने से कितने लोगों की मृत्यु होती है, वैसे ही अग्नि से जल जाने से भी, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि एक अँधेरे में छिपा हुआ है तो दूसरा प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार काम की वृत्ति छिपी रहती है, जबकि क्रोध की, प्रकट। इस काम की वृत्ति को व्यक्ति प्रकट नहीं करना चाहता, लेकिन क्रोध करने में वह संकोच नहीं करता। भगवान् श्री राघवेन्द्र कहते हैं कि दोनों से सावधान रहने की आवश्यकता है; बल्कि सर्प से तो हमें कभी-कभी ही भय होगा, जबकि अग्नि से हमें नित्य भय है। सर्प के निकलने की सम्भावना तो कुछ ऋतुविशेष में, स्थान-विशेष में होती है, पर अग्नि का जलना तो सब जगह, सब समय नित्य आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि के प्रति व्यक्ति को सतत सजग रहना चाहिए।

तो, नारद से भगवान् कहते हैं कि नारद, यह काम और क्रोध की समस्या शंकरजी के सामने भी थी और तुम्हारे सामने भी। भगवान् शंकर ने अपनी क्षमता के

द्वारा उन पर विजय पा ली, जबकि तुम काम और क्रोध दोनों के वशीभूत हो गये। भगवान् श्री राघवेन्द्र ने मीठा व्यंग्य किया। नारदजी ने पूछ दिया—महाराज, आपकी यह दशा क्यों हो गयी? भगवान् ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३।४२।४

—सुनो मुनि, मैं रोषसहित तुमसे कहता हूँ! इस पंक्ति को लेकर रामायण के टीकाकारों में बड़ा विवाद है। भगवान् यदि यह कहते कि मैं बड़ी प्रसन्नता से कह रहा हूँ, तब तो यह ठीक लगता। पर वे कहते हैं कि नारद, मैं क्रोध से कह रहा हूँ। तो भगवान् का तात्पर्य क्या था? —यह कि मुझे आँसू बहाते देख तुमने सोच लिया कि मैंने केवल काम को स्वीकारा है; नहीं, नहीं, मैंने काम और क्रोध दोनों को स्वीकार किया है। नारद का प्रश्न है कि महाराज, आप काम-क्रोध को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? भगवान् उत्तर में बड़ा सार्थक दृष्टान्त देते हैं। कोई बालक अगर सर्प की ओर बढ़ रहा हो और सर्प के पास उसकी उँगलियाँ पहुँच गयी हों या किसी बालक का हाथ अग्नि की ओर बढ़ गया हो, तो वात्सल्यमयी माँ तुरन्त उस समय बालक का हाथ पकड़कर उसे बचाने की चेष्टा करेगी। यह बिलकुल सम्भव है कि बचाने की उस चेष्टा में बालक की उँगलियाँ जहाँ तक पहुँच गयी हैं, माँ का हाथ उससे भी आगे पहुँच जाय। यह भी हो सकता है कि माँ की अँगुली के बढ़ने पर साँप उसे काट ले। यह भी सम्भव है कि बच्चे की उँगली को बचाने की चेष्टा में माँ की अँगुली ही जल जाय। लेकिन माँ इस बात से प्रसन्न हो जाती है कि कम से कम उसका बच्चा सर्प और ज्वाला

से बच गया। तो, नारद ने जब यह पूछा कि महाराज, आपकी यह दशा कैसे, भगवान् बोले––आपकी कृपा से! हम आपको बचाने चले और यह लपट हमें भी लग गयी! भगवान् ने मीठा व्यंग्य किया। बोले––नारद, भूल गये क्या? यह विवाह मैंने अपनी इच्छा से थोड़े ही किया। तुमने यदि शाप ऐसा दिया होता कि जब तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया, तो जाओ, तुम्हारा भी विवाह न हो, तो मेरा विवाह न हुआ होता, फलस्वरूप मुझे यह दुःख भी न भोगना पड़ता। पर तुमने तो यह कह मुझे शाप दे दिया––

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी ।।१।१३६।८

मैं कहाँ तुम्हें काम से बचाने की चेष्टा कर रहा था और कहाँ तुमने मुझे ही शाप दे दिया कि तुम्हें पत्नी के वियोग में दुःख हो! चलो कोई बात नहीं, मैं पत्नी के वियोग में रो रहा हूँ, पर कम से कम तुम तो दुःखी नहीं हो न! इसलिए तुम्हें यह देखकर प्रसन्न होना चाहिए कि जो दुःख तुम पर आनेवाला था, उसे मैंने ले लिया। इस प्रकार भगवान् उनके जीवन में काम की जो स्वीकृति दिखाई पड़ती है, उसका रहस्य प्रकट करते हैं।

(क्रमशः)

○

दक्षिणेश्वर के निकटवर्ती तीर्थ

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा
(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता-७६)

हे मानव ! जीवनलीला की अनेक विचित्र स्मृतियों को भूलकर अविराम गति से भविष्य की ओर अग्रसर हो जाओ। मृत्यु तो अनिवार्य है ही। सभी काल के वशीभूत हैं। यद्यपि यह एक दृढ़ सत्य है, तथापि मानव युग-युगान्तर मे अतीत की स्मृतियों को सँजोकर भविष्य के लिए सुरक्षित रखने का प्रयास करता रहा है।

आरियादह दक्षिणेश्वर के निकट एक ग्राम है। इसका वर्णन एक कवि ने इन पंक्तियों में किया है—

अस्ति गंगातीरे पल्ली पण्डितानां वासस्तथा।
दक्षिणे दक्षिणेश्वरो वनाकीर्ण देउलपोता॥
उत्तरे अग्रपल्ली च कामारहाटी अरण्यानी।
पूर्वस्थिता लक्ष्मीरूपा प्रान्तरा सा शस्यशालिनी॥

—'यह ग्राम गंगा के तीर पर बसा है, जहाँ पर पण्डितों का वास है। इसके दक्षिण में दक्षिणेश्वर तथा देउलपोता का जंगल है, उत्तर में अग्रपल्ली अर्थात आगड़पाड़ा और अरण्याच्छादित कामारहाटी ग्राम हैं, तथा पूर्व की ओर शस्यश्यामवर्ण धान के खेत हैं।' यह कविता बहुत पुरानी है। आज दक्षिणेश्वर ग्राम के पास का देउल-पोता जंगल लुप्त हो चुका है। अरण्य के स्थान पर वहाँ एक नगरी बस गयी है। कामारहाटी का जंगल भी अब नहीं रहा। उसके स्थान पर बहुत से कारखाने खुल गये हैं, जिनके चारों ओर मकान ही मकान नजर आते हैं। आगड़पल्ली में भी बड़े-बड़े कारखाने लग गये हैं, जिनके कारण आगड़पल्ली एक अच्छा खासा शहर बन गयी है। पूर्व में धान के खेतों के

स्थान पर पूर्वबंग से आये शरणार्थियों के शिविर और आवास बन गये हैं। वहाँ छोटे-मोटे कारखाने भी लग गये हैं। चालीस वर्ष पूर्व जहाँ लहलहाते हुए धान के खेत होते थे, वहाँ आज असंख्य लोग निवास कर रहे हैं।

लगभग एक हजार वर्ष पहले आरियादह ग्राम ही 'एड़ूद्वीप' नाम से प्रसिद्ध रहा होगा। परेश बनर्जी रचित 'बाँगलार पुरावृत्त' में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। विप्रदास नाम के कवि ने अपनी कृति 'मनसा मंगल' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है--

१४९८ ई० की बात है। उस समय गौड़ देश में सुलतान हुसैन शाह का राज्य था। उसी के समकालीन श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख शिष्यों में से श्रीदास गदाधर ने एड़दह में एक आश्रम बनवाया। यह आश्रम आज भी 'आरिथादह पाठबाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है एवं इसे 'गदाधर आश्रम' भी कहते हैं। श्री चैतन्यदेव के आदेशानुसार नित्यानन्द प्रभु ने चौबीस परगना क्षेत्र के अन्तर्गत पानीहाटी ग्राम में (जिसे श्री-रामकृष्ण 'पेनेटी' कहा करते थे) श्री राघव पण्डित के घर में निवास किया था। तब एक दिन नित्यानन्दजी इस पाठबाड़ी को देखने आये थे। इस प्रसंग का उल्लेख 'चैतन्य भागवत' में इस प्रकार मिलता है--

दानखण्ड गायेन माधवानन्द घोष।
शुनि अवधूतसिंह परम सन्तोष॥
भाग्यवन्त माधवेर हेनो दिव्य ध्वनि।
शुनिते आविष्ट हॅय अवधूतमणि॥

मुकुति श्री गदाधर दास करि संगे ।
दान खण्ड नृत्य करे निज रंगे ।।

श्री नित्यानन्द प्रभु ने जिस बालगोपाल के विग्रह को गोद में लेकर नृत्य किया था, वह आज भी इस पाठ-बाड़ी में सुरक्षित रखा है । 'चैतन्य भागवत' में दास गदाधर के विषय में एक और कहानी मिलती है । उन्होंने एक मुसलमान काज़ी से हरिनाम का उच्चारण करवाया था । यह घटना यूं हुई । दास गदाधर का समकालीन एक कट्टर मुसलमान काजी आरियादह में निवास करता था । जब भी हरिनाम-संकीर्तन होता, काजी बहुत गुस्सा किया करता । वह जिस किसी तरह हरिनाम-संकीर्तन को बन्द करवाना चाहता था । एक दिन की बात है । दास गदाधर एकाएक रात को काजी के घर में उपस्थित हुए । काजी घर में अकेला बैठा हुआ 'अल्लाह अल्लाह' बोल रहा था । दास गदाधर को देख काजी को आश्चर्य हुआ । उसने दास गदाधर से वहाँ आने का कारण पूछा । गदाधर ने प्रेमपूर्ण मधुर स्वर में कहा, "तुम्हारे मुख से हरिनाम का उच्चारण सुनने के लिए मैं मध्यरात्रि में तुम्हारे घर आया हूँ । तुम हरिनाम क्यों नहीं बोलते ?" काजी गदाधर की बात पर हँसने लगा । मगर गदाधर भी उसका पीछा भला क्यों छोड़ने लगे । वे अति करुण स्वर से बहुत देर तक उससे अनुरोध करते रहे । हारकर काजी को और कोई उपाय न सूझा, उसने गदाधर को टालने के लिए कहा, "आज तो आप जाइए, कल से चिल्ला-चिल्लाकर 'हरिनाम' बोलूंगा ।" अब तो गदाधर के आनन्द की सीमा न रही । उन्होंने काजी साहब से जोर से कहा,

"काजी, कल क्यों ? अभी ही तो तुम्हारे मुँह से 'हरिनाम' उच्चारित हो चुका है !"

ऐसा कहकर नृत्य करते हुए वे आश्रम की ओर चल दिये। यद्यपि श्री गदाधर का देहत्याग कालना में हुआ था, तथापि इस पाठबाड़ी में एक स्थान 'गदाधर का समाधिस्थल' या 'गदाधर आँगन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर दीर्घकाल तक वे तपस्यारत रहे। इसके अतिरिक्त, वहाँ 'निताई सरोवर' और 'यमुनाकुण्ड' नामक दो सरोवर भी है।

मन्दिर के द्वार के ऊपर की दीवार पर एक तैलचित्र टँगा हुआ है, जिसमें श्री नित्यानन्द एवं श्री चैतन्यदेव को भक्तों के साथ नाम-संकीर्तन करते हुए दर्शाया गया है। विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ श्रीरामकृष्णदेव जब बाल-गोपाल विग्रह के दर्शन करने इस पाठबाड़ी में आये थे, तब द्वार पर लगे संकीर्तन के चित्र को देखकर समाधि-मग्न हो गये थे।

पुष्करों सहित यह पाठबाड़ी पहले कालना के प्रसिद्ध महात्मा भगवानदास बाबाजी के संरक्षण में थी। श्रीराम-कृष्ण-भक्तमण्डली भगवानदास बाबाजी से भलीभाँति परिचित है। हृदयराम को लेकर स्वयं श्रीरामकृष्णदेव बाबा के दर्शन करने कालना गये थे। बाबाजी के शिष्य मधुसूदन मल्लिक ने अपने गुरुजी के आदेशानुसार श्रीराधाकृष्ण मन्दिर का निर्माण कर श्रीविग्रह को प्रतिष्ठित किया। गुरुजी ने मन्दिर-सेवा का भार उनको ही सौंप दिया। उस समय आश्रम में भूमि केवल दो बीघा थी। उस अंचल में कुम्हारों की बस्ती थी। मल्लिक के वंशजों ने इन कुम्हारों से और भी २२ बीघे जमीन खरीद-

कर सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। कुम्हारों की बस्ती होने के कारण आज भी इस इलाके को कुम्हारपाड़ा कहते हैं। कुछ समय बाद उसी वंश की भक्तिमती कादम्बिनी दासी ने गोपेश्वरजी के विग्रह की प्रतिष्ठा की। बाद में उनके पौत्र गौरचाँद मल्लिक ने श्री नित्यानन्द और श्री चैतन्य देव के विग्रहों को प्रतिष्ठित किया। यह मन्दिर वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। गौरांगाष्टमी के शुभ दिन पर प्रतिवर्ष यहाँ बड़े उल्लास सहित उत्सव मनाया जाता है। दूर दूर से ग्रामवासी एवं वैष्णव पण्डित यहाँ आकर दास गदाधर की स्मृति में उत्सव मनाते हैं।

श्री चैतन्य देव के जीवनकाल ही में बंगदेश में वैष्णव धर्म-प्रचार हेतु चुने हुए कुछ ग्रामों में आरियादह भी सम्मिलित था। विमान बिहारी मजूमदार द्वारा लिखित 'श्रीचैतन्य चरितेर उपादान' नामक ग्रन्थ में इस तथ्य की पुष्टि मिलती है। उसमें इस प्रकार लिखा है—

"गंगा नदी के पूर्व की ओर वराहनगर, सुखचर, पानीहाटी, एड़दह, खड़दह, कांचनपल्ली (आगड़पाड़ा), कुमारहट्ट (कामारहाटी) ये सभी ग्राम वैष्णव धर्म-प्रचार के प्रसिद्ध केन्द्र थे।"

यद्यपि चैतन्य महाप्रभु के समय आरियादह वैष्णव धर्म-प्रचार का केन्द्र था, तथापि वह तान्त्रिक साधकों का भी प्रधान साधनाक्षेत्र रहा। वह क्रमशः शाक्त, वैष्णव एवं शैव साधकों के पुण्यतीर्थ के अतिरिक्त अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वानों के शिक्षा-केन्द्र के रूप में भी परिणत हो गया। बहुत से गण्यमान्य पण्डितों ने इसे अपना निवासस्थान चुना था। यहाँ पर पण्डित-सभाओं एवं शास्त्र-चर्चा सभाओं की परम्परा स्थापित हुई।

यहीं पर एक सुविख्यात संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र भी बनाया गया। उस समय बंगाल में नवद्वीप संस्कृत विद्या-संस्थानों का प्रधान केन्द्र था। द्वितीय स्थान भट्ट-पल्ली का और तृतीय स्थान एड़दह का था। नवद्वीपाधिपति राजा कृष्णचन्द्र ने इसका नाम रखा था 'दक्षिण नवद्वीप'। इसका कारण यह था कि यह ग्राम वास्तव में शास्त्रज्ञ, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यनिष्ठावान्, सच्चरित्र, वीर एवं धनवान् व्यक्तियों से भरा था।

चौबीस परगना के अन्तर्गत पानीहाटी ग्राम में श्री राघव पण्डित के घर में श्री नित्यानन्दजी तीन मास तक ठहरे थे। श्री हरिदास गोस्वामी रचित 'श्रीमन्महाप्रभु नीलाचललीला' ग्रन्थ में यह उल्लेख है। पानीहाटी ग्राम का नाम सुनते ही दास रघुनाथ के चिउड़ा महोत्सव का स्मरण हो आता है। राघव पण्डित से नित्यानन्दजी ने एक दिन कहा, "अरे बेटे! तुम तो बहुत चालाक हो। अकेले चुपचाप प्रेम रसानुस्वादन करके भरपूर होकर चले जाते हो। दूसरों को पता भी नहीं चलता। मैंने तुम्हें आज पकड़ लिया है और तुम्हें सजा दूँगा। तुम्हें चिउड़ा महोत्सव करके भक्तों को खिलाना होगा।" नित्यानन्दजी के आदेशानुसार राघव पण्डित बड़े समारोह के साथ हर वर्ष ज्येष्ठ मास की शुक्ला त्रयोदशी तिथि पर यह उत्सव करने लगे। यह पर्व आज भी मनाया जाता है।

श्रीरामकृष्णदेव भी दक्षिणेश्वर में रहते समय प्रतिवर्ष इस उत्सव में आमन्त्रित होकर भक्तों को आनन्द-सागर में डुबा दिया करते थे। श्री 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) रचित 'वचनामृत' में १८ जून १८८३ को

पानीहाटी उत्सव में श्रीरामकृष्णदेव की उपस्थिति का विवरण मिलता है। उसमें श्री 'म' ने पाठकों की आँखों के सामने अत्यन्त सुन्दर ढंग से श्रीरामकृष्णदेव के प्रेमोन्मत्त नृत्य का चित्रण किया है। इस विवरण को पढ़ने से लगता है मानो साक्षात् गौरांग महाप्रभु ही श्रीरामकृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं।

कुछ महीने पहले हम लोग राघव पण्डित के पौत्र मणिसेन की ठाकुरबाड़ी एवं गंगा किनारे चिउड़ा महोत्सव के पुण्य तीर्थों के दर्शन हेतु पानीहाटी (पेनेटी) गये थे। उन पवित्र स्थानों को देखते ही हमें श्रीमद्भागवत के इस श्लोक की स्मृति हो आयी, जहाँ (१।१३।१०) युधिष्ठिर तीर्थ-भ्रमण से लौटे विदुरजी से कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

—'हे प्रभो! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थ-स्वरूप होते हैं एवं अपने चित्त में विराजमान गदाधारी श्रीकृष्ण के प्रभाव से तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।'

यह सत्य ही है। महापुरुषों का तीर्थ-भ्रमण लोक-कल्याण के निमित्त होता है। उनके लिए स्वयं कोई कर्तव्य नहीं होता, तथापि लोक-शिक्षण के लिए, भक्तों को कृतार्थ करने के लिए, तीर्थों को पवित्र रखने हेतु वे तीर्थ-भ्रमण किया करते हैं।

○

हास्य-रसिका माँ सारदा

मूल बँगला लेखक—*नित्यरंजन चटर्जी*, कलकत्ता

अनुवादक—*श्यामसुन्दर चटर्जी*, नारायणपुर

माँ ! माँ ! माँ !—यह मानो पतितपावनी, कलुष-नाशिनी गंगा का ही एक और रूप है । माँ श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी हैं । असंख्य मनुष्य गंगा की अनिर्बन्ध धारा में अवगाहन कर देह और मन की ज्वाला शान्त करते हैं । माँ के चरणों में आने से भी ऐसा ही होता है । संसार की ज्वाला से तप्त हो जिन लोगों ने उनके श्रीचरणों में आश्रय लिया, उनका मन प्रशान्ति से भर उठा, उनकी समस्त ज्वाला, यंत्रणा और अन्तर्वेदना का नाश हो गया । अपनी सन्तान को गँवा बैठी एक माँ अपनी व्यथा लेकर उनके पास आयी और हृदय में प्रगाढ़ शान्ति लेकर लौटी । उनके पास धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, पापी-पुण्यात्मा का कोई अन्तर नहीं था । उनमें कोई जाति-भेद नहीं था । व्यक्ति किसी भी जाति का क्यों न हो, विधर्मी या सबके लिए अछूत ही क्यों न हो, उन्होंने दोनों हाथ बढ़ाकर उसे अपने पास खींचा था, उसके आँसुओं को पोंछा था, और उसके मुख पर मसकान लौटा दी थी, उसकी ग्लानि और मलिनता दूर कर दी थी । वे माँ जो थीं ! सबकी माँ थीं । अत्यन्त अपनी, अत्यन्त निकट की, अन्तःकरण के अन्त-स्थल की माँ थीं । वे कहतीं—"अरे, मैं क्या तुम लोगों की कहने भर की माँ हूँ । मैं तो सच्ची की माँ हूँ !"

तभी तो उनका इतना आकर्षण है । श्रीरामकृष्ण चले गये । पर वे कह गये—"तुम रहोगी । अभी तुम्हें बहुत काम करना है । चारों दिशाओं से लोग तुम्हारे पास दौड़कर आएँगे । तुम्हें उनके आँसुओं को पोंछना है ।

उनके भूखे पेट में दो दाना अन्न देना है। आध्यात्मिक भावधारा से उनके अन्तःकरण को भरना है। तुम्हें ही केन्द्र करके विराट् संघ की स्थापना होगी और तुम संघ-जननी बनोगी।"

माँ ने श्रीरामकृष्ण के आदेश को शिरोधार्य किया। एक दिन के लिए भी उसके पालन में व्यतिक्रम नहीं हुआ। चाहे वे कठिन रोगशय्या पर पड़ी हों, चाहे चरम दारिद्रय का भोग कर रही हों, उन्होंने जीवन के अन्तिम क्षणों तक सदा स्मित मुख से श्रीरामकृष्ण के आदेश का निष्ठापूर्वक पालन किया।

माँ अभयप्रदा हैं। उन्होंने अपनी सन्तानों को 'अभीः' मन्त्र से दीक्षित किया। जिसकी ऐसी माँ है, उसे भला भय किस बात का!

कभी हमने माँ को एक निपुण गृहिणी के रूप में पाया, तो कभी उनके चामुण्डा-रूप को देखा, कभी उन्हें संघ-जननी के रूप में जाना, तो कभी देखा उनके ममता-मय, कल्याणरूपी, शान्त, स्निग्ध जननी-रूप को। कभी वे अभयप्रदा, करुणामयी, जगन्माता के रूप में प्रकट हुईं, तो कभी उनका मानवीय रूप दिखाई पड़ा—ठीक वैसा ही जैसा और लोगों का होता है। कितने रूप हैं माँ के! कभी वे हमारे अत्यन्त निकट हैं, तो कभी समझ से ही परे!

फिर हमारी ये ही माँ कितनी हास्य-रसिका थीं। इसके अनेक दृष्टान्त हैं। यह भी मानो माँ का एक रूप है।

माँ पहली बार कलकत्ता आयी हैं। गाँव की रहने-वाली हैं, इसलिए उनके लिए यहाँ सब कुछ नया है। उन्होंने हाथ-मुँह धोने के लिए स्नानागार में प्रवेश

किया । पर नल खोलते ही साँप के फुफकारने-जैसी आवाज सुनकर वे डर गयीं और दौड़कर बाहर निकल आयीं । सबको पुकारकर कहने लगीं—"अरे, तुम लोग जल्दी आओ, देखो नल में साँप घुसा है ।" माँ की बात सुनकर सब हँसने लगे । उन लोगों ने उन्हें समझाते हुए कहा कि यह नल की आवाज है, हवा निकलने से होती है । पहली बार नल खोलने से ऐसी ही आवाज निकलती है । यह सुनकर माँ भी खूब हँसीं । इस घटना को उन्होंने कितनी बार कितने लोगों के समक्ष कहा कोई गिनती नहीं।

माँ रोटी बेलने बैठी हैं । राममय* उनकी सहायता कर रहा है । वह अभी छोटा है । पढ़ता है और माँ के काम में हाथ भी बँटाता है । माँ का स्नेहपात्र है । माँ की भतीजी नलिनी दीदी रोटी सेंक रही है । अचानक वह बोल उठी, "बुआ, तुम्हारी रोटियों से तो राममय की बेली हुई रोटियाँ अच्छी फूल रही हैं ।" बस, क्या था, माँ ने एक छोटी लड़की की भाँति पीढ़ा बेलन सरकाकर रख दिया और बोलीं, "क्या कहती हो ! रोटी बेलते बेलते मैं बूढ़ी हो चली और आज इस दुधमुँहे बच्चे से मुझे हार माननी पड़ेगी ! ठीक है, मैं अब रोटी नहीं बेलूँगी ।" राममय ने भी कह दिया, "माँ, यदि तुम रोटी नहीं बेलोगी तो मैं भी नहीं बेलूँगा ।"

कुछ देर पश्चात् अचानक राममय ने नलिनी दीदी से कहा, "अच्छा, तुम कैसे समझीं कि कौन सी रोटी माँ की बेली हुई है और कौनसी मेरे द्वारा ? सभी रोटियाँ तो एक ही जगह रखी जा रही हैं ।"

* ब्रह्मलीन स्वामी गौरीश्वरानन्दजी ।

राममय की बात सुन माँ ठठाकर हँस पड़ीं और बोलीं, "ठीक ही तो है। तुमने कैसे कह दिया कि जो रोटी फूल रही है, वह राममय की बेली हुई है ? चलो-चलो, बहुत देर हो गयी, अब शुरू करो।" फिर से दोनों के हाथ चलने लगे। नलिनी दीदी की भी जान में जान आयी।

प्रत्येक दिन भक्त लोग माँ का प्रसाद पाने के लिए खड़े रहते हैं। एक दिन माँ को ज्वर हो आया। चिकित्सक ने माँ को भात खाने से मना किया। माँ को साबूदाना दिया गया। भक्तों की ओर देखती हुई वे बोलीं, "क्यों जी, आज तुम लोगों का चेहरा क्यों उतरा हुआ है ? देख रही हूँ आज तुम लोगों की प्रसाद के प्रति कोई रुचि नहीं है !"

माँ की रसिकता से सभी हँस उठे।

माँ खाट पर पैर लटकाकर बैठी हुई हैं। प्रकाश महाराज हाथ में बहुत से कमल के फूल लेकर आये। उनकी इच्छा है कि माँ की चरणवन्दना करें। माँ ने कोई आपत्ति नहीं की। चरणवन्दना के उपरान्त प्रकाश महाराज ने कहा, "माँ, मुझे अब और न घुमाओ।" माँ ने हँसकर कहा, "मुझे छोड़कर तुम इतने दिनों तक घूमते रहे तो क्या मैं तुम्हें दो दिन के लिए नहीं घुमा सकती ?" सुनकर सब हँस पड़े।

माँ जयरामवाटी में हैं। बड़े दिन की छुट्टी है। राँची से कुछ भक्त माँ के लिए नाना प्रकार के फल लेकर आये हुए हैं। माँ की एक दूर के रिश्ते की बहन भी वहाँ बैठी हुई हैं। वे विधवा हैं। सब कोई उन्हें भामिनी-मौसी कहकर पुकारते हैं। वे रोज माँ के पास आती

हैं । उनकी माँ अस्वस्थ है । माँ रोज उन्हें उनकी माँ की सेवा के लिए कुछ फल दे देती हैं। आज भी माँ ने कुछ फल उठाकर भामिनी के हाथ में रख दिया। फल के परिमाण को देख भामिनी का मन नहीं भरा। सामने फल की टोकरी पड़ी हुई थी। एक दीर्घ निश्वास छोड़कर वे भक्तों से बोलीं, "तुम लोग नहीं जानते, परम-हंसदेव के साथ पहले मेरा ही विवाह होना तय हुआ था। पर उस समय सभी उन्हें पागल समझते थे। इसलिए मेरे पिता ने उनके साथ मेरा विवाह नहीं किया। विवाह हो जाने से तो आज ये सब फल मेरे ही घर आते। क्यों, तुम लोग क्या कहते हो ?"

इस बात पर भक्त लोग हँस पड़े। माँ ने भी उनका साथ दिया। वे भामिनी से बोलीं, "ठीक ही तो है, आज ये सब तुम्हारे ही होते। ठाकुर के पागलपन की बात फैलने से मेरे भाग जाग उठे, नहीं तो आज मुझे ही यह बात तुमसे कहनी पड़ती।" माँ ने हँसकर और बहुत सा फल भामिनी के हाथ में रख दिया। भामिनी का मन भी खुशी से भर उठा।

माँ के पास भगिनी निवेदिता और क्रुष्टीन आयी हुई हैं। अब भगिनी निवेदिता कुछ बँगला लिख लेती हैं। टूटी-फूटी बँगला में बोलीं, "माँ, तुम हम लोगों की काली हो।" इस पर माँ ने हँसकर कहा, "नहीं बाबा, मैं काली-वाली नहीं बन सकती, तब तो मुझे जीभ निकालकर रहना पड़ेगा !"

यह सुन निवेदिता और क्रुष्टीन दोनों एक साथ हँसते हुए बोलीं, "तुम्हें हम दोनों माँ के रूप में ही देखेंगी।"

ऐसी रसिका थीं माँ। हमारे अत्यन्त निकट की और नितान्त अपनी माँ ! ○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) क्रोध पाप का मूल है

एक बार मुस्लिम स्त्री-सन्त राबिआ धर्मग्रन्थ पढ़ रही थीं कि एक फकीर वहाँ आया और उसने उनके प्रति दुर्वचन कहने शुरू किये। राबिआ ने उस ओर ध्यान नहीं दिया और वे ग्रन्थ पढ़ती रहीं। काफी देर तक फ़कीर अपशब्द कहता रहा, लेकिन इसका राबिआ पर कोई असर न होता देख उसे क्रोध आ गया। वह राबिआ के पास जा पहुँचा। जब उसने ग्रन्थ पर नजर डाली, तो उसने एक वाक्य के कुछ शब्दों को काटा हुआ पाया। उसका क्रोध और भड़क उठा। उसने चिल्लाकर राबिआ से पूछा, "ये शब्द किसने काटे हैं?" "मैंने," राबिआ ने शान्त स्वर में जवाब दिया। "क्या किसी मनुष्य को धर्मग्रन्थ में लिखे अंश को काटने का अधिकार है?"--उसने आगे प्रश्न किया।

"हाँ, जैसे-जैसे धर्मग्रन्थ की नसीहतों के जरिये हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हमारी बुद्धि परिपक्व होती जाती है। तब यदि हमें कोई अंश गलत प्रतीत हो, तो हमें उसमें आवश्यक सुधार करने में कोई हर्ज नहीं'--राबिआ ने उत्तर दिया।

"तुमने किस अंश को गलत माना है?"--उसने आगे पूछा। "इसमें लिखा है कि शैतान का धिक्कार करना चाहिए। यह वाक्य मुझे ठीक न लगा और मैंने उसे काटकर लिख दिया--शैतान से प्यार करना चाहिए।"--राबिआ ने बताया। "ठीक ही तो लिखा था।"--फ़कीर बोला।

"नहीं, यह वाक्य सही नहीं है ।"-- राबिआ ने उसे समझाते हुए कहा, "यदि किसी व्यक्ति का धिक्कार करना हो, तो उसके प्रति हमारे दिल में क्रोध होना चाहिए । और क्रोध तब आता है, जब हमारे दिल में उसके प्रति नफरत होती है । मैं अपने दिल में क्रोध, नफरत जैसे दुर्गुणों को फटकने नहीं देती, क्योंकि मेरे दिल में खुदा का वास है । इस कारण मेरे दिल में जो प्रेम है, प्यार है, माया है, अनुराग है, वहाँ घृणा और धिक्कार के लिए कोई स्थान नहीं है; फिर शैतान के प्रति नफरत न होने के कारण उसका धिक्कार क्यों करूँ ?"

इन शब्दों से फकीर के दिल में हलचल मच गयी । राबिआ ने आगे कहा, "मेरे दिल में जो खुदा छिपा हुआ है, वह मुझे दूसरों पर प्रेम करने का आदेश देता है, क्रोध करने का नहीं । वह जानता है कि शैतान को क्रोध से नहीं बल्कि प्यार से बस में किया जा सकता है । इसीलिए मैंने शैतान का धिक्कार करने सम्बन्धी वाक्य काटकर उसके स्थान पर उससे प्यार करने सम्बन्धी वाक्य लिख डाला ।"

फकीर को बात जँच गयी । राबिआ पर व्यर्थ ही क्रोध करने का उसे पछतावा हुआ। उसने उनसे माफी माँगी और वहाँ से चुपचाप चला गया ।

(२) छूटि सब लाज गयी कुलकानी

सन्त लल्लेश्वरी ने एक कश्मीरी ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था । बचपन से ही उसका लगाव भजन-पूजन की ओर था । बारह वर्ष की आयु में विवाहोपरान्त जब वह ससुराल गयी, तो उसकी सौतेली सास उसे नाना प्रकार के कष्ट देने लगी । एक गोल पत्थर पर उसे रूखा-सूखा भोजन दिया जाता और वह उसे ही भगवान्

का प्रसाद मानकर ग्रहण करती। भोग और तृष्णा से रहित हो वह ईश्वर-चिन्तन एवं भगवद्भजन को ही महत्त्व देती।

एक बार उसकी ससुराल में कोई उत्सव था। जब उसकी एक पड़ोसन ने उसे नदी के तट पर बर्तन माँजते देखा, तो उसे आश्चर्य हुआ। उसने कहा, "अरी, आज तो तेरे घर में उत्सव है और भेड़-बकरी कटनेवाली है, और तू है कि गन्दे कपड़ों में यहाँ बर्तन माँज रही है!" लल्लेश्वरी ने कहा, "मुझे जब पकवानों में ही कोई रुचि नहीं है, तब पशुओं के मांस की क्या बात! मैं तो गोल पत्थर पर मिलनेवाले भोजन से ही सन्तुष्ट हूँ।" पड़ोसन ने यह बात उसके ससुर को बता दी। ससुर को गुस्सा आया और उसने अपनी पत्नी को खूब फटकारा। बात जब लल्लेश्वरी के पति को मालूम हुई, तो उसने लल्लेश्वरी को खूब डाँटा। उसकी सास ने नमक-मिर्च लगाकर उसके कान भरे और परिणाम यह हुआ कि सास के साथ-साथ पति भी उसे मारने-पीटने लगा। इससे लल्लेश्वरी मानो पागल हो उठी और अपना सारा ध्यान भगवान् के भजन-पूजन की ओर ही देने लगी। आखिर एक दिन उन लोगों ने उसे घर से निकाल ही दिया।

अब लल्लेश्वरी मुक्त थी। वह गलियों-बाजारों में घूम-घूमकर शिवजी के गीत गाने लगी। लोग शिवजी की रूपामृत-लहरी के गीत सुनकर मुग्ध हो जाते, लेकिन बच्चे उसे पागल समझकर उसे चिढ़ाते और उस पर पत्थर फेंकते। मगर उस ओर ध्यान न दे वह शिवतत्त्व की मधुर साधना में मस्त रहती। जब बूढ़े लोग उसके प्रति दयाभाव दिखाते, तो वह कहती, "लोग मुझे

गालियाँ दें या दुर्वचन कहें, वे ऐसा करने को स्वतंत्र हैं। यदि वे मुझ पर फूल फेंकें, तो फेंका करें। इससे मुझे न दुःख होगा, न सुख। मैं जब शिवजी की भक्त हूँ, तो मुझे यह सब सहन करना चाहिए। दर्पण पर मल लगने से उसका क्या बिगड़ेगा ? हमें तो अपने मन पर ही नियंत्रण रखना चाहिए। मन एक गधे के समान है, जिसे वश में रखना ही उचित है।" इसका लोगों पर असर पड़ने लगा और वे उसके भक्त बनने लगे। अब वे भी भजन-कीर्तन में उसका साथ देने लगे। अन्ततः लोगों ने उसकी निश्छल भक्ति स्वीकार की और इस तरह इस सन्त ने शिवो-पासना में स्वयं को न्यौछावर कर दिया।

(३) साईं सबका एक है

हजरत उमर कुरैश थे और इस्लाम धर्म के विरोधी थे। वे मुहम्मद साहब के खिलाफ थे, लेकिन जब उन्हें पता चला कि उनकी बहिन फातिमा और उसके पति दोनों ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया है, तो उन्हें बड़ा गुस्सा आया और वे उनके घर जा पहुँचे। उस समय फातिमा कुरान पढ़ रही थी। आहट हुई, तो उसने कुरान छिपा ली, लेकिन आवाज उमर के कानों में पड़ चुकी थी। उन्होंने पूछा, "क्या पढ़ रही थीं ?" "कुछ नहीं," बहन ने जवाब दिया। "झूठ बोलती हो, तुम ग्रन्थ पढ़ रही थीं"—उमर ने कहा, "मुझे मालूम हो गया है कि तुम दोनों मुसलमान हो गये हो।" और यह कहकर वे बहनोई को मारने के लिए दौड़े, लेकिन इस बीच बहन बीच में आ गयी और डण्डे का वार उसके सिर पर जा पड़ा। इससे वह लहू-लुहान हो गयी, लेकिन वह डरी नहीं और बोली, "उमर, मुझे और मार, जिससे तेरी मंशा पूरी हो।"

उमर ने जब देखा कि बहिन के दिल में उसके प्रति जरा भी नफरत नहीं है, बल्कि पहले जैसा प्यार है, तो उनका हाथ रुक गया। वह बोली, "उमर, सुन, हम सबका खुदा एक ही है, फिर उसे कोई किसी भी नाम से क्यों न पुकारे। हमारे मुहम्मद साहब खुदा के रसूल हैं और हमारी देह उन पर न्यौछावर है। इसलिए अगर तू मारना चाहता है, तो ले मार डाल।"

उमर ने उसकी निडरता को दाद दी कि ये लोग मौत से भी नहीं घबराते। उन्हें लगा कि इस्लाम के ही प्रभाव से उनकी बहन में इतनी ताकत है कि वह मौत को भी तुच्छ मान रही है। उनके दिल में बहन और बहनोई के प्रति प्यार उमड़ पड़ा। बहन को लहूलुहान देख उनका जी पसीज उठा, बोले, "बहन, माफ करो। तुम जो पढ़ रही थीं, वह मुझे भी सुनाओ।" फातिमा ने कुरान पढ़ना शुरू किया और उमर एकाग्र होकर सुनने लगे। अकस्मात् बोल उठे—"अल्लाह एक है। मुहम्मद उसका रसूल है।" फिर बहन के साथ वे मुहम्मद साहब के पास गये और इस्लाम धर्म स्वीकार कर उनके शिष्य हो गये।

(४) ध्यान अटूट तैल धार जिमि

कहते हैं, एक बार अकबर बादशाह आखेट के लिए निकला। मार्ग में नमाज का वक्त हुआ, तो उसने वस्त्र बिछाकर नमाज पढ़ना प्रारम्भ किया। इतने में एक युवती अपने प्रियतम को ढूंढ़ती हुई उधर से निकली। उसका ध्यान वस्त्र की ओर न होने से उस पर पैर देकर निकल गयी। बादशाह ने देखा तो क्रोधित हो उठा; बोला "क्यों री! तुझे यह न दिखाई दिया कि मैं नमाज पढ़ रहा था? मैं नमाज में लीन था, यह देखकर भी सीधे

वस्त्र पर पैर रख चली गयी!" युवती ने सुना, तो जवाब में केवल निम्न दोहा कह सुनाया--

"नर राची सूझी नहीं, तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरे भयो, नहिं राच्यौ रहमान।।"

--मैं तो अपने प्रियतम की खोज में मग्न थी, इसलिए मेरा ध्यान आपकी ओर नहीं गया, मगर आप तो प्रभु-भक्ति में मग्न थे, फिर भला आप मुझे कैसे देख पाये ? मालूम होता है, कुरान पढ़कर आप बौखला गये हैं। वास्तव में आपका ध्यान नमाज की ओर नहीं, मेरी ओर था !

○

सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणापुरुष : श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर-४४००१२)

पाश्चात्य देशों में भारतीय संस्कृति की धवल पताका फहराने और हिन्दू धर्म का ओजस्वी सन्देश देने के बाद स्वामी विवेकानन्द स्वदेश लौटे। १५ जनवरी १८९७ ई० को उन्होंने भारतभूमि पर प्रथम पदार्पण किया और सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए राष्ट्र का पुनर्गठन करने हेतु जनता, और विशेषकर नवयुवकों का, आह्वान किया। मद्रास के अपने 'भारत का भविष्य' विषयक व्याख्यान में उन्होंने कहा--"आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत् देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं।"*

बड़े विस्मय की बात यह है कि जिन दिनों स्वामीजी के मन में इस तरह के विचार चल रहे थे, उन्हीं दिनों २३ जनवरी १८९७ ई० को एक ऐसे शिशु का जन्म हुआ, जिसके जीवन में स्वामीजी के ये शब्द अक्षरशः चरितार्थ हुए थे। यह वाणी बालक सुभाष के जीवन का मानो मूलमन्त्र बन गयी थी, राष्ट्राराधना हेतु उन्होंने किशोरावस्था में संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया था, प्रायः

---

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ५, पृ. १९३।

पचास वर्ष की आयु तक मातृभूमि की सेवा की, भारतीय स्वाधीनता के लिए युद्ध करते रहे और अपने परिश्रम के फलप्रसू होने के पूर्व ही अन्तर्धान हो गये; किन्हीं का कहना है कि विमान-दुर्घटना के फलस्वरूप उनका देहान्त हो गया और किन्हीं अन्य लोगों का अनुमान है कि उन्होंने संन्यास और साधना का जीवन अपना लिया होगा।

विवेकानन्द-वाणी के प्रबल प्रभाव के बारे में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार रोमाँ रोलाँ कहते हैं—"उनके शब्द महान् संगीत हैं, बीथोवन शैली के टुकड़े हैं, हैण्डेल के समवेत गान के छन्दप्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत्स्पर्श के से आघात की सिहरन का अनुभव किये बिना मैं उनके उन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों पर बिखरे पड़े हैं, और जब वे ज्वलन्त शब्दों के रूप में नायक के मुख से निकले होंगे, तब तो न जाने कैसे-कैसे आघात और आवेग पैदा हुए होंगे!" इस वाणी के साथ अपने प्रथम परिचय की बात सुभाषबाबू ने अपनी आत्मकथा में सविस्तार लिखी है। १९१२ ई० में वे तरुणाई के झंझावातों से गुजर रहे थे और उन्हीं दिनों उनके जीवन की यह महत्त्वपूण घटना घटी थी। वे लिखते हैं—"एक दिन अकस्मात् ही मैंने अपने को ऐसी स्थिति में पाया, जिससे संकट की उन घड़ियों में मुझे सर्वाधिक सहायता मिली। मेरे एक सम्बन्धी (सुहृदचन्द्र मित्र) जो हमारे शहर में नये-नये आये थे, हमारी बगल के मकान में रहते थे। एक दिन मुझे उनके यहाँ जाना पड़ा। उनकी पुस्तकों के अन्तर्गत मेरी निगाह स्वामी विवेकानन्द के वाङ्मय पर पड़ी। मैंने उसके कुछ ही पन्ने पलटे होंगे कि मैंने अनुभव किया—

यही तो है जिसकी खोज में व्याकुलता से कर रहा था। मैंने उनसे वे पुस्तकें माँग लीं, उन्हें घर लाया और पढ़ने में जुट गया। उनका सन्देश मेरी अन्तरात्मा में गहरे से गहरा प्रवेश करता गया। मेरे प्रधानाध्यापक ने मेरी सौन्दर्यानुभूति और नैतिक भावना को जाग्रत् किया था... लेकिन वे मुझे कोई ऐसा आदर्श नहीं दे सके थे, जिसको मैं अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित कर सकता; वह तो मुझे विवेकानन्द ने दिया।

"मैं उन पुस्तकों को दिन पर दिन, हफ्ते पर हफ्ते और महीने पर महीने पढ़ता चला गया। मुझे सबसे अधिक प्रेरणा उनके पत्रों और कोलम्बो से लेकर अल्मोड़ा तक दिये गये भाषणों से मिली, जिनमें देशवासियों के लिए व्यावहारिक प्रवचन थे। इस अध्ययन से मुझे उनके विचारों का सार ग्रहण करने में सफलता मिली। तब मैं समझ पाया कि जीवन का परम लक्ष्य है— 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'—अपनी मुक्ति के लिए और मानवता की सेवा के लिए। पूर्ण आदर्श न तो मध्ययुग का आत्मनिष्ठ संन्यास हो सकता है और न बेन्थम तथा मिल का आधुनिक उपयोगितावाद। फिर यह भी मैंने समझा कि मानवता की सेवा के अन्तर्गत देश की सेवा भी निस्सन्देह आ जाती है, जैसा कि उनकी प्रमुख शिष्या और जीवनी-लेखिका भगिनी निवेदिता ने लिखा है, 'उनकी उपासना की अधिष्ठात्री देवी भारतमाता थीं। इस देश में कहीं भी किसी की भी आँखों में कभी आँसू उमड़े, तो उसकी प्रतिक्रिया उनके मन में निश्चय ही होती थी।' स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक मार्मिक भाषण में कहा है, 'प्यारे भाइयो! चारों ओर यह सन्देश गूंजने दो कि

यह नंगा और भूखा भारतीय, निरक्षर भारतीय, ब्राह्मण भारतीय और शूद्र भारतीय मेरा अपना ही भाई है।' भविष्य के बारे में स्वामीजी ने लिखा था—'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के दिन लद चुके हैं और अब शूद्र की बारी है, भविष्य पददलितों का है।' उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की आधुनिक व्याख्या की। वे अक्सर कहा करते थे कि उपनिषदों का मूलमन्त्र है शक्ति। नचिकेता के समान हमें अपने आप में श्रद्धा रखनी होगी।...

"मैं उस समय मुश्किल से पन्द्रह वर्ष का था, जब विवेकानन्द ने मेरे जीवन में प्रवेश किया। इसके परिणामस्वरूप मेरे भीतर एक उथल-पुथल मच गयी, एक क्रान्ति घटित हुई। स्वामीजी को समझने में तो मुझे काफी समय लगा, लेकिन कुछ बातों की छाप मेरे मन में शुरू से ही ऐसी पड़ी कि कभी मिटाये नहीं मिट सकी। विवेकानन्द अपने चित्रों में और अपने उपदेशों के जरिये मुझे एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व लगे। मैंने उनकी कृतियों में उन अनेक प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर पाये, जो मेरे मन में उस समय घुमड़ रहे थे और या तो अस्पष्ट थे या फिर बाद में स्पष्ट होकर सामने आये।... अब मैंने उस मार्ग पर विचार करना आरम्भ किया, जो मुझे विवेकानन्द ने दिखाया था।

"विवेकानन्द के द्वारा मैं क्रमशः उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस की ओर झुका। विवेकानन्द के भाषणों और पत्रों आदि के संग्रह छप चुके थे और सभी को सामान्य रूप से उपलब्ध थे। परन्तु रामकृष्ण बहुत कम पढ़े-लिखे थे और उनके कथन उस प्रकार उपलब्ध नहीं थे। उन्होंने जो भी जीवन जिया, उसके स्पष्टीकरण का भार

औरों पर छोड़ दिया। फिर भी उनके शिष्यों ने कुछ पुस्तकें और डायरियाँ प्रकाशित कीं, जो उनसे हुई बात-चीत पर आधारित थीं और जिनमें उनके उपदेशों का सार दिया गया था। इन पुस्तकों में चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में सामान्यतः और आध्यात्मिक उत्थान के बारे में विशेषतः व्यावहारिक दिशानिर्देश दिये गये हैं। रामकृष्ण परमहंस बार-बार इस बात को दोहराया करते थे कि आत्मानुभूति के लिए त्याग अनिवार्य है और सम्पूर्ण अहंकारशून्यता के बिना आध्यात्मिक विकास असम्भव है। उनके उपदेशों में कोई नयी बात नहीं है। वे वस्तुतः उतने ही पुराने हैं, जितनी भारतीय सभ्यता।...परन्तु रामकृष्ण के उपदेशों की विशेषता यह थी कि उन्होंने जो कुछ कहा, उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाला और उनके शिष्यों के अनुसार वे आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा तक पहुँच गये।

"शीघ्र ही मैंने अपने मित्रों की एक मण्डली बना ली, जिनकी रुचि रामकृष्ण और विवेकानन्द में थी। स्कूल में और स्कूल के बाहर जब कभी हमें मौका मिलता, हम इसी विषय की चर्चा करते। क्रमशः दूर-दूर तक भ्रमण और यात्राएँ आरम्भ कीं, जिससे हमें मिल-बैठकर और अधिक बातचीत का अवसर मिले।"*

इन्हीं दिनों कटक से सुभाषबाबू ने अपनी माता श्रीमती प्रभावती बसु को जो ८-९ पत्र लिखे थे, उनमें उनके चिन्तन में आये इस परिवर्तन की स्पष्ट छाप है, ईश्वर तथा राष्ट्र के लिए जीवन उत्सर्ग करने की अदम्य लालसा

---

* 'नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय', खण्ड १, प्र. सं., पृ० ३१-३२ (अब से यह ग्रन्थ केवल 'नेताजी' के रूप में उद्धृत होगा)।

की झलक है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"ईश्वर का अनुग्रह कम नहीं है। देखो तो जीवन में हर क्षण उनके अनुग्रह का परिचय मिलता है।...विपत्ति में लोग ईश्वर का स्मरण करते हैं। मैं तो हृदय में पूर्ण निष्ठा से स्मरण करता हूँ। परन्तु जैसे ही विपत्ति समाप्त होती है और सुख के दिन आते हैं, हम ईश्वर का स्मरण करना भूल जाते हैं। इसी कारण कुन्ती ने कहा था कि हे स्वामी, तुम मुझे सदैव विपत्ति में रखना, तब मैं सच्चे हृदय से तुम्हें स्मरण करूँगी; सुख-वैभव में तुमको भूल जाऊँगी, इसलिए मुझे सुख मत देना।"

एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं—"संसार के तुच्छ पदार्थों के लिए हम कितना रोते हैं, किन्तु ईश्वर के लिए हम अश्रुपात नहीं करते। माँ, हम तो पशुओं से भी अधिक कृतघ्न और पाषाण-हृदय हैं। उस शिक्षा को धिक्कार है, जिसमें ईश्वर का नाम नहीं और उस व्यक्ति का जन्म निरर्थक है, जो प्रभु के नाम का स्मरण नहीं करता।"

तदुपरान्त उन्होंने लिखा था— "ईश्वर ने हमको सांसारिक प्रलोभनों के खिलौनों से बहका रखा है और माया में फँसा रखा है। माँ अपने कार्य में व्यस्त है, बच्चा खिलौनों से खेल रहा है, जब तक शिशु खिलौनों को फेंककर माँ-माँ पुकारता हुआ व्याकुल नहीं हो उठता, तब तक माँ उसके पास नहीं आती। माँ सोचती है बच्चा तो खेल ही रहा है, मैं क्यों जाऊँ ? परन्तु जब बच्चे का रुदन माँ के मर्म को बेध देता है, तब माँ दूर नहीं रह सकती और भागकर बच्चे के पास आ जाती है। विश्व-जननी दुर्गा भी माँ की भाँति है, वह

भी माँ है। पूर्व एकाग्रता से भगवान् का स्मरण किये बिना वे हमें नहीं मिलते।"*

इन उद्धरणों में हम देखते हैं कि वे अधिकांशतः श्रीरामकृष्ण की वाणी को ही अपने शब्दों में दुहराते हैं। इससे हम कुछ कल्पना कर सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय पर कितना अधिकार जमा लिया था। और स्वामीजी ने ? ८ जनवरी १९१३ ई० को अपने मंझले भाई के नाम पत्र में उन्होंने लिखा था— "भारतवर्ष की कैसी दशा थी, और अब कैसी हो गयी है ? कितना शोचनीय परिवर्तन है ! कहाँ हैं वे परम ज्ञानी, महर्षि, दार्शनिक ! कहाँ हैं हमारे वे पूर्वज, जिन्होंने ज्ञान की सीमा का स्पर्श कर लिया था!... सब कुछ समाप्त हो गया ! अब वेदमन्त्रों का उच्चारण नहीं होता। पावन गंगातट पर अब सामगान नहीं गूँजते, परन्तु हमें अब भी आशा है कि हमारे हृदय से अन्धकार को दूर करने और अनन्त ज्योतिशिखा प्रज्वलित करने के लिए आशादूत अवतरित हो गये हैं। वे हैं— विवेकानन्द। वे दिव्य कान्ति और मर्मवेधी दृष्टि से युक्त हो संन्यासी के वेश में विश्व में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए ही आये हैं। अब भारत का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है।"†

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९१२-१३ ई० में जब सुभाष राबेनशा स्कूल, कटक में छात्र थे, तभी स्वामीजी ने उनके जीवन में प्रवेश किया था और

* 'पत्रावली', मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृ० ६, ८ तथा १८-१९।
† वही, पृ० २७।

उनके हृदय पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। इसके फलस्वरूप उनके जीवन का ढर्रा ही बदल गया। उनके जीवन में आये परिवर्तन की ओर उनके माता-पिता का ध्यान गया, वे डरे और सुभाष को डाँटा-फटकारा भी, पर इस दृढ़संकल्पी तरुण को स्वनिर्वाचित पथ से डिगा पाना किसी के बस की बात न थी। अब से वे ध्यान, योग तथा ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करने लगे और तदनुसार साधनाएँ भी करने लगे। गुरु अथवा पथप्रदर्शन की आवश्यकता बोध होने के कारण वे नगर में आने-जानेवाले साधु-संन्यासियों से मेल-जोल बढ़ाने लगे। परन्तु उन्हें आशानुरूप समाधान नहीं मिला, इस कारण वे पुनः रामकृष्ण-विवेकानन्द की ओर खिचने लगे।

फिर रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों का भी उनके परिवार से थोड़ा सम्पर्क था। डा० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त सुभाषबाबू के एक सहयोगी एवं जीवनीकार थे। उन्होंने लिखा है— "रामकृष्ण मिशन के संन्यासी उनके पिता जानकीबाबू के अन्तरंग मित्र बाबू हरिवल्लभ बोस और उनके पुत्र रामकृष्ण बोस से मिलने को आया करते थे। कटक के अपने विद्यार्थी-जीवन में वे (सुभाष) उन लोगों द्वारा प्रदर्शित सेवाभाव से भी प्रभावित थे।"*

साधना में आशानुरूप प्रगति न होने के कारण भी अब सुभाष को ऐसा लगा कि इसके लिए पहले चित्त-शुद्धि कर लेना आवश्यक है और इस कारण उनका रुझान सेवाकार्य की ओर हुआ। वे लिखते हैं—

* Dr. Hemendranath Dasgupta : 'Subhash Chandra', p. 10.

"धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा कि आध्यात्मिक विकास के लिए समाज-सेवा आवश्यक है । यह भाव सम्भवत: विवेकानन्द के अध्ययन से पनपा, क्योंकि... उन्होंने मानवता की सेवा का उपदेश दिया था, जिसके अन्तर्गत देश की सेवा भी आ जाती है। उन्होंने सबसे यह भी कहा था कि वे गरीबों की सेवा करें, क्योंकि गरीबों की सेवा करना ही भगवान् की पूजा है।"* तब से गरीबों, दीन-दुखियों तथा साधुओं के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा सहानुभूतिपूर्ण हो गया और वे यथासम्भव उन लोगों की सहायता कर सन्तोष का अनुभव करते । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कुछ मित्रों के साथ गाँवों में जाकर कुछ सेवा-कार्य करने का भी प्रयास किया । कहीं-कहीं उन्हें थोडी सफलता मिली, पर किन्हीं अन्य ग्रामों में वहाँ के निवासियों के असहयोग के कारण निराश होकर लौट आना पड़ा ।

तदुपरान्त, उन्हीं के शब्दों में— "अपने स्कूली जीवन की समाप्ति के साथ-साथ मेरी धार्मिक रुचि और जोर पकड़ती गयी । पढ़ाई का अब मेरे लिए प्राथमिक महत्त्व नहीं रह गया था।... अध्यापकों से हमें कोई प्रेरणा नहीं मिलती थी—केवल एक-दो ही अध्यापक अपवादस्वरूप थे, जो रामकृष्ण और विवेकानन्द के अनुयायी थे।... अपने मन को अन्धविश्वास से मुक्त करने के इस प्रयास में विवेकानन्द से मुझे बहुत सहायता मिली । उन्होंने जिस धर्म की शिक्षा दी और योग सम्बन्धी जो धारणा प्रस्तुत की, उसका आधार वेदान्त था, जो एक युक्ति-संगत दर्शन है । वेदान्त सम्बन्धी उनकी अवधारणा

* 'नेताजी', खण्ड १, पृ० ३७ ।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विरुद्ध न होकर उन सिद्धान्तों पर ही आधारित थी। उनके जीवन का एक प्रमुख कार्य धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करना था और उनके विचार से ऐसा वेदान्त के जरिये किया जा सकता था।"*

परन्तु धर्म और सेवा में अपनी इस रुचि के बावजूद सुभाष ने अपने अध्ययन की उपेक्षा नहीं की। १९१३ ई० की मैट्रिकुलेशन का परीक्षाफल निकलने पर पता चला कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बैठनेवाले दस हजार विद्यार्थियों में कटक के सुभाष चन्द्र बोस ने दूसरा स्थान प्राप्त किया है। पहला स्थान मिला था मित्रा इंस्टिट्यूशन के प्रमथ सरकार को। सुभाष के छात्रजीवन के साथी दिलीपकुमार राय ने अपने संस्मरणों में बताया है कि उनका एक अन्य सहपाठी निवारण कटक से आया था। उसने बताया—"वह (सुभाष) इस प्रमथ सरकार को पीछे छोड़ देता, अगर उसकी भाँति किताबी कीड़ा होता। किन्तु सुभाष! वह कभी भी पाठ्यपुस्तकों को मस्तिष्क में ठूँसने की कोशिश नहीं करता। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि वह योगियों और सन्तों का सत्संग करता है और स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ता रहता है।"†

अब उच्चतर शिक्षा के लिए सुभाष को कटक से कलकत्ता भेजा गया। साढ़े सोलह साल के इस तरुण ने वहाँ आते ही अपना भावी कार्यक्रम तय कर लिया—

* वही, पृ० ३९-४०।

† राष्ट्रधर्म (मासिक), लखनऊ, अगस्त १९६९, पृ० १३-१४।

"मैं दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन करूँगा, जिससे मैं जीवन की मूलभूत समस्या का समाधान प्राप्त कर सकूँ; व्यावहारिक जीवन में जहाँ तक सम्भव हो रामकृष्ण और विवेकानन्द के पदचिह्नों पर चलूँगा और चाहे कुछ भी क्यों न हो, मैं सांसारिकता की ओर नहीं मुड़ूँगा।" वे लिखते हैं, "यह दृष्टिकोण लेकर मैंने अपने जीवन के नये अध्याय का श्रीगणेश किया।"*

(क्रमशः)

* 'नेताजी', पृ० ४५।

○

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्तिसम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (१)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के भी अध्यक्ष रह चुके थे तथा अन्त में रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने बहुतसी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can One be Scientific and yet Spiritual ?' का हिन्दी रूपान्तर है, जिसे हम इस अंक से धारावाहिक रूप से प्रकाशित करने जा रहे हैं। रूपान्तरकार हैं स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं।--स०)

१. हमारे युग और भविष्य की एक महती आवश्यकता

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्तिसम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है? इस प्रश्न का---हमारे युग के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न का स्पष्ट एवं सुदृढ़ उत्तर है, "हाँ।" वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं आध्यात्मिकता दोनों का एक साथ होना खूब सम्भव है। यह सम्भव ही नहीं, वांछनीय भी है। यही नहीं, इसकी तत्काल आवश्यकता है। आज मानवजाति जिन जबरदस्त चुनौतियों का सामना कर रही है, उनमें किसी व्यक्ति का वैज्ञानिक प्रवृत्तिसम्पन्न और आध्यात्मिक दोनों होना वास्तव में एक विशिष्ट चुनौती है। यदि हम अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन में वैज्ञानिक चेतनासम्पन्न एवं आध्यात्मिक एक साथ न हो पाए, तो मानवजाति का अर्थपूर्ण अस्तित्व ही संशय का विषय हो जाएगा।

मानवजाति की नियति अब किन्हीं आत्मविस्मृत विचारकों के चिन्तन का विषय मात्र नहीं रह गयी है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि एवं चिन्ता का विषय हो गयी है। मानवजाति पर जो घटता है, उसका प्रभाव आप पर और मुझ पर पड़ता है। आपके तथा मेरे विचारों एवं क्रियाकलापों से मानवजाति प्रभावित होती है, भले ही हम सामान्य स्त्री-पुरुष ही क्यों न हों। सही मायने में वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न और साथ ही आध्यात्मिक होने पर हम मानवजाति के वर्तमान एवं भविष्य को अर्थपूर्ण एवं समृद्ध बना सकेंगे। लेकिन प्रारम्भ में इस बात को सैद्धान्तिक रूप से सिद्ध करना होगा।

२. विज्ञान के उत्कर्ष की कहानी

इतिहास के प्रत्येक काल में विचारों एवं भावनाओं का एक प्रवाह रहता है। इस 'कालप्रवाह' का भला या बुरा प्रभाव मानवजाति के भविष्य पर दूरगामी, एवं कभी-कभी लगभग निर्णायक, रूप से पड़ता है। वर्तमान पर ही भविष्य निर्भर है तथा 'आज' ही 'कल' के रूप को निर्धारित करता है।

आज 'कालप्रवाह' वैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा अत्यधिक प्रभावित है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रवृत्ति एक बोझा नहीं है, जिसे उतार फेंका जा सके अथवा समकालीन चिन्तन से दूर किया जा सके।

विज्ञान, चार सौ वर्ष की [1] धार्मिक मत-मतान्तरों एवं अन्धविश्वासों के विरुद्ध एक एक इंच के लिए लड़ी

[1] सन् १६०० ईसवी में ईसाई धर्म-न्यायालय के शिकार ज्यार्दानो ब्रूनो की मृत्यु से सही मायने में आधुनिक विज्ञान की प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है।

गयी लड़ाई के बाद, बड़ी कठिनाई से वर्तमान स्थिति को प्राप्त कर पाया है। डा० एण्ड्रू डी. व्हाइट नामक विद्वान् ने एक बृहत् ग्रन्थ[२] में इस संघर्ष का वर्णन करते हुए यह बताया है कि किस प्रकार विकास के विरुद्ध हठ-पूर्वक युद्ध करती अज्ञान की ज्ञान-विरोधी वृत्ति एवं ज्ञानपिपासा की समर्पित दृढ़ता दोनों मानव में एक साथ अभिव्यक्त होती हैं।

कोपर्निकस की महान् कृति 'आकाशीय सत्ताओं की क्रान्ति' २४ मई सन् १५४३ ईसवी को प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में टोलेमी के भू-केन्द्रीय खगोल विज्ञान के विरुद्ध सूर्य-केन्द्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था, जिसके अनुसार सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमने के बदले पृथ्वी एवं अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। जब नव-मुद्रित पुस्तक कोपर्निकस के घर पहुँची और उनके हाथों में रखी गयी, तब वे अपनी मृत्यु-शय्या पर थे। पर कहना होगा कि यह उनका सौभाग्य था। डा० व्हाइट लिखते हैं, "कुछ ही घण्टों के बाद वे उन धर्मान्ध लोगों की पकड़ के बाहर हो गये, जो उनकी प्रतिष्ठा मिटा देते अथवा सम्भवतः उनकी जान ही ले डालते।"[३]

द्रष्टव्यः—ए. एन. व्हाइटहेड : 'Science and the Modern World', मेन्टर पुस्तकें, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर इन्क., २४५ फिफ्थ एवेन्यू, न्यूयार्क १६; न्यूयार्क, १९४९।

२. एण्ड्रू डी. व्हाइट : 'A History of the Warfare of Science with Theology in Christendom', जार्ज ब्रेजिलर, न्यूयार्क, १९५५।

३. वही, पृष्ठ १२३-४।

बाइबिल के आधार पर प्राप्त तथाकथित अधिकार का उपयोग करते हुए गिरजाघरों के नेताओं ने कोपर्निकस के सिद्धान्तों की रोमन कैथोलिक एवं प्रोटेस्टैण्ट गिरजाघरों में पुरजोर निन्दा की। डा० व्हाइट लिखते हैं:—

"लेकिन नवीन सत्य ढका नहीं जा सका। उसे खिल्ली उड़ाकर अथवा रोषपूर्वक दूर नहीं किया जा सका। बहुतों ने उसे स्वीकार कर लिया था। लेकिन पोप को स्पष्ट रूप से कहने का साहस केवल एक व्यक्ति ने किया था। यह नया योद्धा ज्यार्दानो ब्रूनो नामक विचित्र मानव था। उसका एक स्थान से दूसरे स्थान में पीछा किया गया। अन्त में वह अपना पीछा करनेवालों पर बरस पड़ा। इसके लिए उसे पकड़कर वेनिस में रोम के ईसाई जाँच-न्यायालय की काल-कोठरियों में ६ वर्ष तक कैद रखा गया; फिर जिन्दा जलाकर उसकी भस्म हवा में बिखेर दी गयी। फिर भी नया सत्य जीवित रहा। ब्रूनो के बलिदान के दस वर्ष बाद गैलीलियो की दूरबीन की सहायता से कोपर्निकस के सिद्धान्त प्रमाणित एवं प्रतिष्ठित हुए।"[४]

कोपर्निकस की मृत्यु के अड़सठ वर्ष बाद सन् १६११ ईसवी में गैलीलियो की छोटी सी दूरबीन से कुछ अकल्पित वस्तुएँ दिखाई दीं। अपनी दूरबीन से गैलीलियो ने चन्द्रमा के पर्वत एवं गड्ढे, बृहस्पति के उपग्रह, शुक्र की कलाएँ एवं आकाशगंगा के अनगिनत तारे देखे। उनकी खोज ने एक मार्मिक भविष्यवाणी को सत्य

४. वही. पृष्ठ १२९-३०।

किया। वर्षों पूर्व कोपर्निकस के विरोधियों ने उनकी हँसी उड़ाते हुए पूछा था, "अगर तुम्हारा सिद्धान्त सत्य हो तो शुक्र की भी चन्द्रमा की तरह कलाएँ होनी चाहिए ?" कोपर्निकस का उत्तर उस महान् सत्यान्वेषी के अनुरूप था, जो देखी एवं जानी गयी वस्तुओं के प्रति असन्दिग्ध एवं अज्ञात के प्रति सदा उत्सुक रहता है। उन्होंने कहा था, "आप ठीक कहते हैं। मैं नहीं जानता क्या उत्तर दूँ। भगवान् दयामय हैं। वे समय पर आपके प्रश्न का उत्तर प्रदान करेंगे।"[५] इसका उत्तर गैलीलियो के आविष्कार से प्राप्त हुआ। गैलीलियो के अनुसन्धानों ने कोपर्निकस के सिद्धान्त को परिकल्पना की श्रेणी से उठाकर संसार के समक्ष सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। अब कैथोलिक धर्म-सम्प्रदाय ने इस विषय को ईश्वर-द्रोही के विरुद्ध युद्ध के रूप में अपने हाथों में लिया। ईसाई धर्म-न्यायालय पुनः सक्रिय हुआ। इस बार उसका लक्ष्य गैलीलियो था। निराश होकर मरने के पूर्व गैलीलियो को जो यातनाएँ[६] सहनी पड़ीं, वे मानव के धार्मिक इतिहास के निकृष्टतम अध्यायों में से एक है।

कोपर्निकस के सिद्धान्तों की स्वीकृति को १५० वर्ष लगे।

असहिष्णुता के विरुद्ध लगभग चार शताब्दियों के साहसिक संघर्ष से विज्ञान क्रमशः शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहा। अभी हाल ही में उसने पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त किया है। अब संसार में मुक्ति-प्राप्त विज्ञान के पास

५. वही, पृष्ठ १३०।

६. वही, खण्ड १, अध्याय ३, विभाग ३ एवं ४।

इतनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा है कि संगठित धर्म अपने बचाव पर उतर आया है। यही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के नाम से प्रचलित बातों में से अधिकांश को अपने अस्तित्व के लिए विज्ञान की स्वीकृति लेनी होगी!

३. पाश्चात्य में धार्मिक प्रभाव के ह्रास के कारण

यूरोपीय सभ्यता में धर्म के प्रभाव के धीरे-धीरे घटने के दो प्रमुख कारणों की समीक्षा करते हुए ए. एन. व्हाइटहेड ने जो बातें कही हैं, वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं:—

"पिछली दो से अधिक शताब्दियों में धार्मिक विचारक विश्व की अभूतपूर्व बौद्धिक प्रगति के साथ तालमेल रखने में असफल रहे हैं। अतः वे आक्रमण, प्रत्याक्रमण एवं बचाव करते हुए अन्त में न्यूनाधिक अपयश सहित हारते रहे हैं। जब विज्ञान में किसी पुराने सिद्धान्त के स्थान पर नया सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है, तब उसे विज्ञान की पराजय के बदले विजय का अवसर समझा जाता है। लेकिन धर्म में ऐसी बात नहीं है। यह सत्य है कि धर्म के मूलभूत सिद्धान्त चिरन्तन हैं, लेकिन विकासशील विचारों के गत्यात्मक जगत् में उन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति में निरन्तर विकास होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब सारभूत आध्यात्मिक सन्देश को ऐसी काल्पनिक बातों से साहसपूर्वक पृथक् किया जावे, जो नवीन ज्ञान के प्रकाश में समीचीन नहीं पायी जावें।"

व्हाइटहेड का मत है कि धर्म को अपनी पुरातन शक्ति पुनः प्राप्त करने के लिए परिवर्तनों का सामना उसी भाव से करना सीखना होगा, जिस भाव से विज्ञान करता है।" वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के

साथ ही साथ "धार्मिक विचारों का निरन्तर वर्गीकरण होना चाहिए, जो धर्म के लिए अत्यन्त लाभकारी होगा।"

व्हाइटहेड के अनुसार धर्म के प्रति आधुनिक उदासीनता का दूसरा प्रमुख कारण, उसकी जिस प्रकार की व्याख्या धर्म-संघों द्वारा की जाती है, वह है। अपनी धर्म की व्याख्या में वे उसके ऐसे पहलुओं को प्रदर्शित करते हैं, जिनकी वर्तमान काल में कोई सार्थकता नहीं रह गयी है, अथवा जो अधार्मिक भावनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। आधुनिक विज्ञान ने वर्तमान सभ्यता में एक महान् मनोवैज्ञानिक परिवर्तन कर दिया है। कई ऐसे पुरातन भय जिनका उपयोग धार्मिक भावना जगाने के लिए किया जाता था, अब मानव-मन को प्रभावित नहीं करते। मानव की प्रगति में विज्ञान के इस योगदान का लाभ उठाने में धर्म असफल रहा है। दूसरी ओर, लोगों के मन पर अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए उसने अधार्मिक एवं सांसारिक उद्देश्यों को धार्मिक विचारों के साथ मिला दिया है। उदाहरण के लिए, धर्म के सिद्धान्त जीवन को सुनियोजित करने में उपयोगी हैं; धर्म ऐसे सद्व्यवहारों का अनुमोदन करता है, जिनसे सामाजिक सम्बन्ध सुखकर हों; इत्यादि।

व्हाइटहेड इस मनोवृत्ति को 'धार्मिक आदर्शों के सूक्ष्म ह्रास' की संज्ञा देते हैं। वे कहते हैं कि आचार-व्यवहार धर्म के गौण परिणाम भले ही हों, पर वे उसके सार-तत्त्व कभी नहीं हैं। यही कारण है कि प्रत्येक महान् धर्माचार्य ने धर्म को सद्व्यवहार के अनुमोदक के रूप में प्रस्तुत करने का विरोध किया है। व्हाइटहेड कहते हैं, "सर्वोपरि, धार्मिक जीवन आरामतलबी का उपाय नहीं है।"

अवश्य, सदाचार बहुत म त्वपूर्ण है । यह सही है कि अपने विचारों एवं भावनाओं को अनुशासित किये बिना मनुष्य धर्म के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, लेकिन आचार किसी भी अर्थ में धर्म का अन्तिम लक्ष्य नहीं है ।

भौतिक एवं सामाजिक जीवन को आरामदेह बनाने के लिए धार्मिक आदर्शों का पोषण करने से धर्म का सूक्ष्म अधःपतन होता है । वह धर्म के प्रति लोगों की आस्था को ही हानि पहुँचाता है । इस प्रक्रिया से धर्म मुक्ति का सन्देशवाहक होने के बदले अपनी ही रक्षा में निरत दिखाई देता है । व्हाइटहेड के अनुसार धर्म को सुरक्षा के नियम, लाभ के उपाय या भौतिकवाद के हाथ की कठ-पुतली न होकर ईश्वर में बद्धमूल होना चाहिए तथा आत्मा का साहसिक अनुसन्धानकर्ता बने रहकर उसे अपना क्रान्ति-कारी आकर्षण बनाये रखना चाहिए । आराधना उसका उद्देश्य एवं चिरन्तन दर्शन उसकी प्रेरणा होनी चाहिए ।

ये गणितज्ञ-दार्शनिक कहते हैं—"धर्म मानव-प्रकृति द्वारा ईश्वर की खोज का परिणाम है । भगवान् की आरा-धना की प्रेरणा उसकी शक्ति से ही प्राप्त होती है । वही धर्म शक्तिशाली होता है, जिसके क्रिया-अनुष्ठान एवं विचारों में विराट् के दर्शन की झलक मिलती है । भगवान् की उपासना सुरक्षा का एक नियम नहीं है । वह तो अन्तर्जगत् का साहसिक अनुसन्धान एवं अप्राप्य को पाने की उडान है । उच्च साहसिक प्रयत्न को दबा देने से धर्म का अन्त हो जाता है ।"[७]

---

७. द्रष्टव्यः—ए. एन. व्हाइटहेड, पूर्वोल्लिखित, अध्याय १२, 'धर्म और विज्ञान', पृष्ठ १८०-९२ ।

उदारचेता धार्मिक लोग व्हाइटहेड के विश्लेषण को सामान्यत: उपयोगी पाएँगे, लेकिन उनका यह कथन कि भगवदाराधना 'अप्राप्य को पाने की उड़ान' है, धर्म के सत्यों के कथन के बदले कवित्वपूर्ण अधिक है।

धर्म के विषय में हमारे बौद्धिक ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं:—प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ एवं मानवजाति के महान् धर्माचार्य। इनसे हमें ज्ञात होता है कि अपने उच्चतम रूप में धर्म 'सुरक्षा का नियम' नहीं है, बल्कि 'आत्मा की साहसिक खोज' है। लेकिन यह साहसिक कार्य निश्चय ही 'अप्राप्य को पाने की उड़ान' नहीं है।

प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों के लिए स्वर्ग-प्राप्ति, भगवत्-साक्षात्कार, जीव और ब्रह्म का एकत्व, निर्वाण आदि का एक लक्ष्य निर्धारित करता है, जिसे सामान्यत: मोक्ष कहा जाता है। ईश्वर और मोक्ष सम्बन्धी सभी धारणाएँ विभिन्न धर्मों में एक समान नहीं हैं, लेकिन सभी अपने उपदेशों में एक प्रापणीय लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं।[८] ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है, और किया जा चुका है।

आज धर्म को अपने ही खेमे के दो खतरों का सामना करना पड़ रहा है। एक उसके छिछलेपन से और दूसरा उसकी संकीर्णता से उत्पन्न होता है। प्रथम में धर्म के मुख्य उद्देश्य को यह समझ बैठने का भय है कि दुनिया को ठीक करना है। दूसरे में अपने धर्म को ही एकमात्र सत्य धर्म मान लेने का डर है। युक्ति एवं तथ्यों की उपेक्षा करने के कारण ये दोनों मान्यताएँ उचित नहीं हैं।

८. सभी धर्म न्यूनाधिक स्पष्ट भाषा में ऐसे लक्ष्य का उल्लेख करते हैं, जो निश्चित रूप से प्राप्य है; उदाहरणार्थ:—

पहली मान्यता इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि ईश्वर का दर्शन एवं ज्ञान संसार क अनेक स्त्री-पुरुषों को हुआ है। दूसरी मान्यता इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि

---

(१) इस्लाम :

'ओ श्रद्धालु भक्तो ! यदि तुम्हें अल्लाह का भय है, तो वे तुम्हें मुक्त करेंगे और तुम्हारे पापों का दूर करेंगे और तुम्हें क्षमा करेंगे। अल्लाह परम कृपालु है।' कुरान, ८, २९।

(२) ईसाई धर्म :

'पवित्रात्मा धन्य हैं, क्योंकि वे भगवान् का दर्शन करेंगे।' नया व्यवस्थान : सन्त मैथ्यू, ५८।

(३) यहूदी धर्म :

'भगवान् ने अपनी मुक्ति का ऐलान किया है। उन्होंने अपना न्याय सभी राष्ट्रों के सामने प्रकट कर दिया है।' पुराना व्यवस्थान: साम्स, ९८, २।

(४) ताओ धर्म :

'परमेश्वर वह देवालय है, जहाँ सभी शरण पाते हैं: वह पुण्यात्मा का अमूल्य धन, पापी का उद्धारकर्ता और रक्षक है।' ताओ तेह चिंग, ६२, १, ४।

(५) पारसी धर्म :

'ओ मर्त्य जीवो ! इन आदेशों की ओर ध्यान दो, जो भगवान् ने सुख एवं दुःख के लिए दिये हैं। पापियों को दीर्घ दण्ड, सत्य का अनुसरण करनेवालों को आनन्द, पुण्यात्माओं को बाद में भी मुक्ति का सुख !' यास्ना, ३२, २।

(६) बौद्ध धर्म :

'काम, क्रोध और मोह के नष्ट होने पर श्रद्धालुजन दुःख के पार चले जाते हैं तथा चरम मोक्ष के अधिकारी होते हैं।' महापरि-निब्बान सुत्त, २, २७।

दूसरे धर्म भी हैं, जिनकी सत्यता को नकारा नहीं जा सकता; क्योंकि उन्होंने भी अनुभूतिसम्पन्न एवं भगवद्दर्शन करनेवाले महापुरुषों को जन्म दिया है।

सम्भवतः कुछ लोगों को भय है कि ईश्वर-दर्शन की सम्भावना को स्वीकार करना ईश्वर को ससीम बना देना होगा और ऐसे ईश्वर की आराधना सम्भव नहीं होगी। पर उनका यह भय निराधार है। नदी के सागर में पहुँचने पर सागर छोटा नहीं हो जाता, बल्कि नदी ही बड़ी हो जाती है। भगवत्-साक्षात्कार द्वारा भगवान् सीमित नहीं हो जाते, केवल जाननेवाले की सीमाएँ चूर हो जाती हैं। भगवत्-साक्षात्कार से व्यक्ति अनन्त में लीन हो जाता है एवं उसका ईश्वर-विषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है। भगवत्-दर्शन से उसके असीमत्व की हानि का कोई भय नहीं है।

कुछ लोग इस दूसरे भय का पोषण करते हैं कि यदि वे अपने से भिन्न किसी अन्य धर्म की सत्यता स्वीकार कर लें, तो उनका धर्म असत्य प्रमाणित हो जाएगा। उनका तर्क बहुत सीधा है। अगर 'क' सत्य है तो 'ख' सत्य नहीं हो सकता और 'ग' को असत्य होना चाहिए, क्योंकि क,

---

(७) **हिन्दू धर्म :**
'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' –– ब्रह्मविद् परमपद प्राप्त करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् २, १, १।
द्रष्टव्य : राबर्ट अर्नेस्ट ह्यम द्वारा संकलित एवं सम्पादित तथा चार्ल्स स्क्रिबनर्स संस, न्यूयार्क द्वारा सन् १९३२ ईसवी में प्रकाशित विभिन्न धर्मों की चुनी गयी उक्तियों का संकलन—Treasure House of the Living Religions, 'मुक्ति' पर अध्याय १३।

ख, ग, एक दूसरे से भिन्न हैं । लेकिन संसार का सौभाग्य है कि 'सरलतम' परमात्मा सभी विविधताओं एवं विरोधाभासों का स्वामी है। आपाततः असंगत वस्तुओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना वह जानता है । गुलाब की सत्यता को स्वीकार करने के लिए कमल या मोगरे के सत्य को अस्वीकार करना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक धर्म ईश्वरीय सत्ता के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न धर्मों का कुछ विषयों में एक दूसरे से मतभेद ईश्वर के अनन्त ऐश्वर्य को ही सिद्ध करता है। अतः दूसरे के धर्म को सत्य मानने से अपने धर्म की सत्यता की हानि का कोई भय नहीं है ।

आज धर्म-जगत् में ईश्वर के दर्शन एवं ज्ञान सम्बन्धी सभी उपलब्ध प्रमाणों का समादरपूर्ण पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है, जिससे ईश्वर सम्बन्धी मान्यता को मधुरतर एवं अधिक व्यापक बनाया जा सके । सभी क्षेत्रों में, ज्ञान के विस्तार के इस युग में धर्मों को यह साहसिक कार्य अपने हाथों में लेना चाहिए, जिससे वे विज्ञान की चुनौती का सक्रिय रूप से सामना कर सकें ।

लेकिन हमें यह स्वीकार करना होगा कि विज्ञान एवं धर्म दोनों क्षेत्रों में उच्चतर ज्ञान एवं निम्नतर ज्ञान के बीच सदा ही झगड़ा रहा है । सम्भवतः ऐसा समय कभी नहीं आएगा, जब संसार में ऐसे कुछ नामधारी वैज्ञानिक नहीं होंगे, जो अनुभव-सिद्ध प्रमाणों के बदले सत्य की अपनी ही मान्यताओं के आधार पर उसी को सच्चे विज्ञान के रूप में स्वीकार करेंगे, जिसे वे 'अधिकृत विज्ञान' समझते हैं । लेकिन आज सामान्यतः वैज्ञानिक प्रशिक्षण के प्रतिमानों में इतनी प्रगति हो गयी है कि

अकेले अपने ही विज्ञान को सत्य घोषित करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। कोई भी वैज्ञानिक ऐसी घोषणा कर अपनी प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाये बिना नहीं रह सकता। ऐसा धर्म के क्षेत्र में नहीं है।

सन् १९६४ ईसवी में पोप पॉल छठे का ईमानदारी के साथ यह विश्वास था कि केवल उनका धर्म ही सत्य है। उन्होंने अपने समस्त अधिकार के साथ स्पष्ट रूप से घोषित किया था : "वस्तुतः सत्यनिष्ठा हमें अपने विश्वास को स्पष्ट रूप से घोषित करने के लिए प्रेरित करती है कि ईसाई धर्म ही एकमात्र सत्य धर्म है।" [१]

विज्ञान के क्षेत्र में युक्तिहीनता तथा ज्ञात एवं स्वीकृत तथ्यों की उपेक्षा को मिलाना अब सम्भव नहीं है। लेकिन दुर्भाग्य से धर्म को असंगतता तथा ज्ञात एवं स्वीकृत तथ्यों की उपेक्षा के साथ मिलाना अभी भी सम्भव है। यह अनेक कारणों में से एक है, जिनसे ईमानदार, समझदार एवं सत्यनिष्ठ लोगों के एक वर्ग के लिए धर्म से किसी भी प्रकार की प्रेरणा पाना सम्भव नहीं है। वे विशुद्ध विज्ञान के अनुसरण को 'एकमात्र सत्यधर्म' के अनुसरण से अधिक पवित्र समझते हैं। ऐसे धर्म का अनुसरण उनके लिए सत्य की एक ऐसी उपेक्षा है, जो अत्यन्त विरक्तिकर, घृणित एवं हानिकारक है।

○

१. द्रष्टव्य : पोप पॉल छठे का प्रथम राज-परिपत्र, परिच्छेद १०७, अगस्त ६, १९६४।

माँ के सान्निध्य में (१६)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के संचालक हैं। —स०)

११-२-१९१३, उद्‌बोधन, कलकत्ता

मैं—माँ, स्वामीजी ने यह जो कितने लोगों को मंत्र दिया, तुम भी कितने लोगों को मंत्र दे रही हो, यह तो वैसा ही है जैसे कोई आया तो उसे दो रुपया देकर विदा कर दिया, फिर मन में कुछ रहा नहीं।

माँ—इतने लोग आ रहे हैं, कितनों को मन में रखा जा सकता है? आग के जलने पर क्या पतिंगे नहीं आते? यह भी वैसा है।

मैं—जो मंत्र लेता है, वह क्या पाता है? बाहरी दृष्टि से देखने पर व्यक्ति जैसा था वैसा ही तो दिखाई देता है।

माँ—मंत्र में से शक्ति जाती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है और शिष्य की गुरु में। इसीलिए तो मंत्र देने पर शिष्य का पाप शरीर में आता है, जिससे इतने रोग होते हैं। गुरु होना बड़ा कठिन है—शिष्य का पाप लेना पड़ता है। शिष्य के पाप करने पर गुरु को भी वह लगता है। शिष्य अगर अच्छा हो तो गुरु का भी अच्छा होता है। किसी की प्रगति अचानक होती है और किसी की क्रम से। अब जिसका जैसा संस्कार।

"इसीलिए राखाल मंत्र देना नहीं चाहता । कहता है, 'माँ, मंत्र देने से ही तबियत खराब हो जाती है ।' मंत्र के नाम से ही उसके शरीर में बुखार चढ़ जाता है !"

एक संन्यासी महाराज ने एक लड़के को मंत्र लेने के लिए माँ के पास भेजा है । माँ उसका पूरा परिचय जानकर बोलीं, "तुम लोगों के तो गोसाईं-गोविन्द (कुलगुरु) हैं, उनके पास से मंत्र लेना ।" जो भी कारण रहा हो, पर माँ ने उसे दीक्षा नहीं दी ।

रात में भोजन के बाद पान लाने के लिए गया । माँ बाजू के कमरे में बच्चों के लिए मसहरी टाँग रही थीं । सुना कि माँ पगली-मामी से कह रही हैं, "तू मुझे सामान्य मानवी मत समझ ।...तू जो मुझे इतनी माँ-बाप की गाली देती है, मैं तेरा अपराध नहीं लेती हूँ । सोचती हूँ गाली और क्या है, दो शब्द ही तो ? यदि मैं तेरा अपराध लूँ तो क्या तेरी रक्षा हो सकती है? जब तक बची रहूँगी, तेरा ही भला होगा । तेरी लड़की तेरी ही रहेगी । जब तक वह बड़ी नहीं हो जाती, तभी तक मेरी है । नहीं तो मेरे भला कौनसी माया है ? अभी काट दे सकती हूँ । कपूर के समान एक दिन कब उड़ जाऊँगी, पता भी नहीं चलेगा ।"

पगली—मैंने तुम्हें बाप की गाली कब दी ? मैंने बाप की गाली नहीं दी—यों ही कुछ कहा है । तुम जिसे देती हो, उसे सब कुछ दे देती हो ।

पगली-मामी का मन्तव्य यह है कि माँ सारा रुपया-पैसा राधू के लिए ही रख दें ।

माँ—मेरा बालक-स्वभाव है । मेरे पास इतने आगे-पीछे का क्या हिसाब रहता है ? जो चाहता है दे देती हूँ ।

काशी से लौटकर माँ कुछ दिन कलकत्ते में रहीं, फिर जयरामवाटी रवाना हो गयीं। २५ फरवरी को वे कोआलपाड़ा पहुँचीं। ठाकुरघर के बाजू के कमरे में माँ के रहने की व्यवस्था की गयी। मैंने वट का एक बीज बाहर निकाल माँ से कहा, "माँ, देखती हो. लाल भाजी के बीज से भी यह छोटा है, पर इससे कितना बड़ा पेड़ निकलता है! कैसा आश्चर्य है!" माँ बोलीं, "होगा क्यों नहीं? यही देखो न, भगवान् के नाम का बीज कितना-सा है, पर उसी से समय में भाव, भक्ति, प्रेम कितना कुछ होता है।"

जयरामवाटी पहुँचकर हम लोग भोजन करने बैठे। हममें से एक ने कहा, "माँ, देखा आपने, इन (मामा) लोगों की अकल कैसी है? आप आयीं और इन लोगों ने किसी को भी नदी के किनारे नहीं भेजा।" इस बात का उल्लेख कर माँ ने बड़े मामा से कहा, "अरे, यह जो मैं आयी तो तूने किसी को नदी के किनारे भेजा क्यों नहीं? मेरे ये लड़के लोग आये। तूने न तो किसी को भेजा और न खुद ही गया।"

प्रसन्न मामा—दीदी, मैंने काली के डर के कारण नहीं भेजा कि कहीं बाद में वह कहने न लगे कि 'दीदी को अपनी तरफ करने के हथकण्डे कर रहा है।' क्या मैं जानता नहीं कि तुम कौन हो और ये (भक्त) लोग कौन हैं? जानता सब हूँ, पर कुछ करने का रास्ता नहीं। भगवान् ने इस बार मुझे वह क्षमता नहीं दी। बस, यही आशीर्वाद दो कि जैसे इस बार तुमको पाया है, वैसे ही जन्म-जन्म में तुम्हें पाता रहूँ, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

माँ—तुम लोगों के यहाँ और? हो गया जो होना था। राम ने कहा था, 'मरकर अब फिर से कौसल्या के

पेट से न जनमूँ !' फिर तुम लोगों के यहाँ ? पिता परम रामभक्त थे, परोपकारी थे, माँ कितनी दयावती थीं; इसीलिए इस घर में मैं जनमी ।

एक दिन प्रसन्न-मामा ने आकर माँ से कहा, "दीदी, मैंने सुना कि तुमने किसी को सपने में दर्शन दिया है, उसे मंत्र दिया है और कहा है कि उसकी मुक्ति होगी । और हम लोगों को तुमने अपनी गोद में बडा किया है, तो हम लोग क्या हरदम ऐसे ही रहेंगे ?" माँ उत्तर में बोलीं, "ठाकुर जो करेंगे, वही होगा । फिर देख, श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों के साथ कितना खेले, कितना हँसे, कितना घूमे, उनकी जूठन खायी, लेकिन क्य। वे लोग ज।न सके थे कि कृष्ण कौन हैं?"

एक दिन हम कुछ भक्त भोजन के बाद जूठन साफ करन जा रहे थे । माँ ने रोककर कहा, "नहीं, नहीं, वह सब रख दो—तुम लोग देवों के लिए भी दुर्लभ हो ।" भक्तों ने जब इस पर आपत्ति की तो वे बोलीं, "वह सब साफ करने के लिए आदमी है, नौकरानी है !"

१४-३-१९१३, जयरामबाटी

श्यामबाजार के ललित डाक्टर और प्रबोधबाबू आये हैं । शाम के लगभग ४ बजे वे माँ को प्रणाम करने आये और उनसे बातचीत कर रहे हैं ।

ललितबाबू—माँ, खान-पान के बारे में किन नियमों का पालन करना चाहिए ?

माँ—मृतक के प्रथम श्राद्ध का अन्न नहीं खाना चाहिए, उससे भक्ति की बड़ी हानि होती है । अन्य श्राद्ध का अन्न खा सकते हो, पर प्रथम श्राद्ध का नहीं । ठाकुर मना करते थे । फिर जो कुछ खाओगे, भगव।न् को देकर खाओगे, अप्रस।दी अन्न खाना नहीं । जैसा अन्न खाओगे,

वैसा रक्त बनेगा। शुद्ध अन्न खाने से रक्त भी शुद्ध होगा, मन शुद्ध होगा, बल होगा। शुद्ध मन में शुद्ध भक्ति होगी, प्रेम होगा।

ललितबाबू—माँ, हम लोग तो संसारी हैं, स्वजन-सम्बन्धी के श्राद्ध में क्या करेंगे?

माँ—श्राद्ध में जाकर काम-काज सँभालना, खटना, जिससे उन लोगों के मन में अन्यथा बात न आए। पर उस दिन जिस किसी प्रकार सम्भव हो खाना टालने की कोशिश करना। अगर टालना बिलकुल सम्भव न हो तो श्राद्ध में विष्णु या देवताओं को जो भोग लगाया गया हो, वही ग्रहण करना। प्रसाद हो जाने पर प्रथम श्राद्ध का अन्न भी भक्त लोग खा सकते हैं।

ललितबाबू—कई बार श्राद्ध के लिए लायी गयी चीजें बच जाती हैं, उनका उपयोग चल सकता है?

माँ—हाँ, चल सकता है, उसमें दोष नहीं है, बेटा! गृही और क्या कर सकता है?

प्रबोधबाबू—माँ, वे (ठाकुर) तो त्याग पसन्द करते थे, हम लोगों में त्याग भला कहाँ है?

माँ—होगा, धीरे-धीरे। इस जन्म में थोड़ा-सा हुआ, अगले जन्म में और थोड़ा-सा होगा। चोला ही तो बदलता है, आत्मा तो वही एक रहती है।

"कामिनी-कांचन का त्याग ही ठाकुर की विशेषता थी। वे कहते, 'मैं इच्छा करूँ तो सेजोबाबू (मथुरबाबू) से कहकर कामारपुकुर को सोने से मढ़वा दे सकता हूँ। पर इससे होगा क्या? वह सब तो अनित्य है।' किसी किसी के बारे में वे कहते कि यह उसका आखिरी जन्म है। कहते,

'अरे, उसकी तो किसी बात की इच्छा नहीं है रे! यह इसका आखिरी जन्म है' ।"

उन लोगों ने प्रणाम करके विदा ली ।

सन्ध्या के समय माँ के घर के बरामदे में बैठकर बातचीत हो रही थी । कायस्थ के उपनयन की बात उठी ।

मैं—किसी किसी ने स्वामीजी से कहा था, 'शूद्र को संन्यास का क्या अधिकार है ?' तुम जब काशी गयी थीं, तब काशी के 'त्रिशूल' अखबार ने महाराज को गाली दी थी । लेकिन स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा था, 'कायस्थ क्षत्रिय होते हैं, अतः उनका संन्यास में अधिकार है ।'

माँ—(दूसरी बातें कहने के बाद) मैं और कुछ नहीं समझती, बस इतना जानती हूँ कि सप्तर्षियों में से एक ऋषि का आगमन हुआ था । फिर ठाकुर के भक्त सब ज्ञानी संन्यासी हैं । ज्ञानी संन्यास ले सकता है । इस गौरदासी को देखो, स्त्रियों का कहाँ संन्यास होता है ? पर गौरदासी क्या स्त्री है ? वह तो पुरुष है । उसके समान पुरुष हैं कितने? उसने स्कूल, गाड़ी, घोड़ा, सभी कुछ तो कर लिया । ठाकुर कहते थे, 'अगर स्त्री संन्यास लेती है तो वह कभी भी स्त्री नहीं है ।' वह तो पुरुष ही है । गौरदासी से वे कहते, 'मैं पानी ढालता हूँ, तू मिट्टी सान ।'

जयरामवाटी, २८-३-१९१३

सुबह का समय था । घर के भीतर प्रवेश करने पर देखता हूँ माँ कलमी शाक काट रही हैं । मैंने उन्हें कलमी शाक के साथ और कुछ काटते देखकर कहा, "कलमी भाजी के साथ यह क्या काट रही हो ? यह तो घास है ।" माँ बोलीं, "यह घासफूल की भाजी है, कृष्ण के शरीर का रंग इस घासफूल के रंग का था ।"

दोपहर को मैं खाने के लिए बैठा था। पगली-मामी ने अपने कमरे के बरामदे में एक लड़के के लिए, जो शायद उसका कोई सम्बन्धी था, पत्तल बिछायी थी और ग्लास में पानी दिया था। बिल्ली ने ग्लास के पानी में मुंह डाल दिया, इसलिए उस पानी को बदल दिया गया। फिर से बिल्ली ने उसे जूठा कर दिया, अतः उसे फिर बदला गया। तीसरी बार जब बिल्ली पुनः आकर पानी पीने लगी, तब पगली ने उस बिल्ली को भगाते हुए कहा, "जलमुंही बिल्ली, मैं तुझे मार डालूंगी!" चैत का महीना था। माँ पास ही थीं। उन्होंने कहा, "न, न, प्यास के समय बाधा नहीं देनी चाहिए। और फिर उसने पानी में तो मुंह डाल ही दिया है।"

पगली-मामी चिल्लाकर कहने लगी, "तुमको बिल्ली पर इतनी दया दिखाने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य के प्रति बड़ी दया कर रही हो न! मनुष्यों पर अपनी दया क्यों नहीं दिखातीं?"

माँ ने गम्भीर होकर कहा, "जिसके प्रति मेरी दया नहीं, वह नितान्त अभागा है। मैं नहीं जानती कि कीड़े-मकोड़े तक ऐसा कोई प्राणी है जिस पर मेरी दया न हो!"

रात में मैं खाने के लिए बैठा था। माँ ने स्वयं तुरई, आलू आदि मिलाकर एक सब्जी बनायी थी। उसे परोसकर वे बोलीं, "खाकर देखो कैसा बना है। मैंने थोड़ीसी खाकर कहा, "यह तो मानो रोगी का पथ्य हुआ है, ठण्डा-ठण्डा। किसने पकाया?"

माँ—मैंने।

मैं—तुमने खुद?

माँ—हाँ।

मैं—पर ठीक हुआ नहीं। हमारे उधर की पसन्द के अनुरूप नहीं।

माँ—तुम उसका रस चखकर तो देखो।

नलिनी—ओ बुआ, तुमने उसमें जरा भी मिर्च नहीं दी है। वह क्या खाने लायक है ?

माँ—(नलिनी से)—तू उसकी बात मत सुन। खाकर देख, अच्छी लगेगी।

मैं—मैं कुछ दिनों से इन लोगों से पूछकर कि तुमने क्या पकाया है, थोड़ा थोड़ा चखते आ रहा हूँ। सब वैसा ही है।

माँ—अच्छी बात है, एक दिन तुम्हारे देश जैसी रसोई बना दूँगी। तुम बता देना। उसमें मिर्च अधिक देनी पड़ती है न ?

मैं—उतनी अधिक नहीं। पर क्या मिर्च कम होने से रसोई खराब बनती है ?

माँ—(नलिनी से)—कल चने की दाल लाना, वह पकाऊँगी। मैं पहले अच्छी रसोई बना लेती थी। पर अब तो अभ्यास छूट गया है। कामारपुकुर में लक्ष्मी को माँ और मैं पकाती थीं। एक दिन ठाकुर और हृदय खाने बैठे। लक्ष्मी की माँ खाना अच्छा पकाती थी। उसने जो बनाया था उसे खाकर ठाकुर ने कहा, 'अरे हृदू, यह जिसने पकाया है वह है रामदास वैद्य, और मेरी बनायी वस्तु खाकर बोले, 'और यह छिनाथ सेन का है !' श्रीनाथ सेन अनाड़ी वैद्य था। तो लक्ष्मी की माँ हुई रामदास वैद्य और मैं हुई अनाड़ी—छिनाथ सेन ! सुनकर हृदय ने कहा, 'वह तो ठीक है, पर तुम अपने इस अनाड़ी वैद्य को सब समय पाओगे; शरीर दवाने और

यहाँ तक कि पैर दबाने के लिए भी। बुलाने से ही हुआ। रामदास वैद्य के विजिट की बड़ी फीस है, और फिर उसे सब समय पा भी नहीं सकते। लोग पहले अनाड़ी को बुलाते हैं—वह तुम्हारा सब समय का साथी है।' ठाकुर ने कहा, 'ठीक! ठीक! यह सब समय साथ है।'

"एक दिन ठाकुर ने दक्षिणेश्वर में कहा, 'नरेन के लिए बढ़िया पकाओ।' मैंने मूँग की दाल और रोटी बनायी। खाने के बाद उन्होंने नरेन से पूछा, 'क्यों रे, कैसा खाया?' नरेन ने कहा, 'खाया तो खूब, पर मानो रोगी का पथ्य था।' ठाकुर ने सुनकर कहा, 'उसके लिए वह सब क्या बनाया? उसके लिए चने की दाल और मोटी मोटी रोटियाँ बनाना।' मैंने बाद में वही किया। तब नरेन को खाकर सन्तुष्टि हुई।"

जयरामवाटी, ८-५-१९१३

राधू बीमार थी। पगली-मामी माँ को कोस-कोसकर कहने लगी, "तुमने ही दवाई खिला-खिलाकर मेरी बेटी को मार डाला।" और भी बहुत कुछ अनाप-शनाप बकने लगी। वरदा-मामा को बुलाने पर उन्होंने पगली को डाँटा। माँ के लिए भी पगली का यह व्यवहार अत्यन्त असहनीय हो उठा। उन्होंने उसे धमकाते हुए कहा, "तुझे आज ही मार डालूँगी। यदि मैं तुझे मारूँ तो दुनिया में ऐसा कोई नहीं जो तेरी रक्षा कर सके। और इसमें न मुझे पुण्य लगेगा, न पाप।"

कुछ देर बाद वे हम लोगों से कहने लगीं, "मैं एक ऐसे पति को ब्याही गयी, जिसने कभी मुझे 'तू'

तक नहीं कहा। दक्षिणेश्वर में एक दिन ठाकुर के कमरे में भोजन लेकर गयी थी,* उसे रखकर चली आ रही थी; तो उन्होंने यह सोचकर कि लक्ष्मी खाना देकर जा रही है, कहा, 'दरवाजा बन्द करती जा।' मैंने कहा, 'हाँ, दरवाजा बन्द कर दिया है।' मेरे गले की आवाज पहचानकर उन्होंने कहा, 'अरे तुम! मैंने सोचा था कि लक्ष्मी है—कुछ मन में न लाना।' उन्होंने 'बन्द करती जा' कहा था न, इसीलिए उन्हें इतना संकोच हुआ। दूसरे दिन भी नौबतखाने के सामने जाकर कहने लगे, 'देखो जी, कल रात मुझे नींद नहीं आयी, यह सोचकर कि ऐसे कठोर शब्द कैसे कह गया।' और यह (राधू की माँ) मुझे दिन-रात गाली बके जा रही है! किस पाप से मुझे यह सब हो रहा है, नहीं मालूम? लगता है मैंने शंकर के सिर पर काँटासहित बेलपत्र चढ़ाया होगा। वही काँटा मेरे लिए यह काँटा बन गया है।"

---

* माँ ने यह सोचकर कि ठाकुर के पास कोई नहीं हैं, सन्ध्या के उपरान्त सरुचाकलि (एक बंगाली व्यंजन) और सूजी की खीर बनाकर खुद ले गयी थीं।

O

मनोनिग्रह का मनोविज्ञान

(गीताध्याय ६, श्लोक ३३-३६)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछले प्रवचन में हमने देखा कि किस प्रकार भगवान् कृष्ण अभ्यास और वैराग्य को इस चंचल मन के निग्रह का उपाय बतलाते हैं। विश्व को भारत के मनोविज्ञान का यह विशिष्ट सन्देश है कि मन को मनुष्य अपने नियन्त्रण में ला सकता है। पश्चिमी मनोविज्ञान भारतीय मनोविज्ञान के इस दावे को पहले तो कवि-कल्पना कहकर एकदम ही अस्वीकार करता था, पर जब से योग और वेदान्त की ओर पश्चिमी मनस्तत्त्वदर्शियों का ध्यान आकर्षित हुआ है, तब से भारतीय मनोविज्ञान की ओर देखने की उनकी दृष्टि में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है और अधिकाधिक मनस्तत्त्वशास्त्री उसके अध्ययन की ओर झुकते जा रहे हैं। भारतीय मनोविज्ञान की ओर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान खींचने का मौलिक कार्य सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्द ने किया। अमरिका में उन्होंने 'राजयोग' पर जो व्याख्यान दिये, उनसे वहाँ का विद्वत्-समाज विशेष रूप से प्रभावित हुआ, और जब स्वामीजी ने अपने इन व्याख्यानों को 'पातंजल-योगसूत्र' पर अपनी टीका के साथ सम्पादित कर 'राजयोग' के नाम से ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया, तो पश्चिम के लोगों के लिए भारतीय मनोविज्ञान का वह आधारभूत ग्रन्थ बन गया। सुप्रसिद्ध अमेरिकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स का स्वामीजी के साथ इस सम्बन्ध में

विशेष वार्तालाप भी हुआ था और जेम्स को स्वामीजी के विचारों में मनोविज्ञान की एक नयी दिशा दिखाई पड़ी थी।

'पातंजल-योगसूत्र' भारतीय मनोविज्ञान का आधारभूत ग्रन्थ है। महर्षि पतंजलि को भारतीय मनोविज्ञान का जनक माना जाता है। इस ग्रन्थ ने मन का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन किया है और उसकी निश्चलता की प्राप्ति को उसका निग्रह माना है। योग-मनोविज्ञान का यही काम्य लक्ष्य है। उसकी दृष्टि में शरीर के ही समान मन भी सर्वथा जड़ है, वह आत्मा के चैतन्य के कारण चेतन-सा प्रतीत होता है। शरीर और मन के जड़त्व का अन्तर यह है कि शरीर स्थूल जड़ है और मन, सूक्ष्म जड़। जड़ की स्थूलता और सूक्ष्मता का भेद यह है कि सूक्ष्म जड़ आत्म-चैतन्य को प्रतिफलित करता है, जबकि स्थूल जड़ वैसा करने में समर्थ नहीं होता। इसे यों समझें, जैसे स्फटिक भी पत्थर है और सामान्य पाषाणखण्ड तो पत्थर है ही। पर दोनों में अन्तर है। सामान्य पाषाणखण्ड आलोक को प्रतिफलित नहीं कर पाता, जबकि स्फटिक वैसा करने में समर्थ होता है। मन और शरीर के जड़त्व के इस भेद पर विशद विचार हमने अपने २३वें गीताप्रवचन में किया है।

भारतीय मनोविज्ञान का पश्चिमी मनोविज्ञान से मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम मन के निग्रह को स्वीकार करता है और उसकी प्रणालियाँ निर्देशित करता है, दूसरा मनोजय को स्वीकार ही नहीं करता। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि पश्चिमी मनोविज्ञान ने मन के ऊपर और किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं किया, वह मन को ही सब कुछ समझता है, जबकि भारतीय मनोविज्ञान

ने मन को जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि में मन आत्मा के हाथों एक यंत्र है। जब तक मन अपने आपको स्वतंत्र मानता है, तभी तक मनुष्य तनावों, दुश्चिन्ताओं, संवेगों आदि का शिकार होता है, पर जब उसे यह प्रतीति करा दी जाती है कि वह स्वतंत्र नहीं है, उसके पीछे जो आत्मसत्ता विद्यमान है वही उसकी चेतना और स्फूर्ति का स्रोत है तथा उस आत्मसत्ता की चेतना से अलग होकर वह शून्य ही है, तब उसे अपने स्वरूप का बोध होता है और वह इन्द्रियों से अपना नाता तोड़कर आत्मा से जोड़ता है। मन को ऐसी प्रतीति कराने की जो प्रक्रिया है, उसे योगसाधना कहकर पुकारा गया है। जब मन की यह बन्धकता दूर होती है, तब वही मोक्ष की अवस्था कही जाती है, मन तब मानो पूर्णतः शुद्ध हो आत्मा से तद्रूप ही हो जाता है। भारतीय मनोविज्ञान ने इसे 'मनोनाश' या 'मनोलय' कहकर पुकारा है। 'मैत्र्युपनिषद्' कहता है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥६/३४

—'मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। जब वह इन्द्रियों से जुड़कर विषयों में आसक्त होता है, तब बन्धन का हेतु बनता है और जब निर्विषय हो जाता है, तब मोक्ष का।' इस मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए 'मुण्डकोपनिषद्' कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ २/२/८

—'उस परमात्मतत्त्व (परावर ब्रह्म) का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे

संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।' भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि में यही व्यक्तित्व की समग्रता (Integration of Personality) है।

पर पाश्चात्य मनोविज्ञान को यह स्वीकार्य नहीं है। वह मनोविश्लेषण (psycho-analysis) के जरिये मन की ग्रन्थियों को खोलने का उपक्रम करता है। सिगमंड फ्रायड आधुनिक मनोविज्ञान के, विशेषकर पाश्चात्य मनोविश्लेषण के, जनक कहे जाते हैं। उन्होंने मनोरोग-चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं और पाश्चात्य मनोविज्ञान को उनकी देन अपूर्व है। उनके अनुसार यौन-आवेग ('लिबिडो'=Libido) ही मनुष्य की समस्त क्रियाओं के मूल में है। हम सामान्यतः 'यौन' (sex) शब्द को जिस अर्थ में समझते हैं, फ्रायड का अभिप्रेत अर्थ उससे व्यापक है। मनुष्य सुखेप्सा-वृत्ति (Pleasure Principle) के द्वारा परिचालित होता है। 'लिबिडो' इस सुख-संवेदना की मुख्य प्रेरकवृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्य के अचेतन (unconscious) मन में छिपी रहती है। यह जीवन-प्रवृत्ति (Eros) से उत्पन्न वह मानसिक ऊर्जा है, जो सर्जनात्मक शक्ति के रूप में व्यक्ति को जीवन के वांछित लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

मन का यह जो गत्यात्मक पक्ष है, फ्रायड ने उसके तीन भाग किये हैं—'इद' (Id), 'ईगो' (Ego) और 'सुपर-ईगो' (Super-Ego)। एक ही परिस्थिति में हमारे मन में अलग-अलग विचार उठते हैं, ऐसा लगता है मानो हमारे भीतर से अनेक व्यक्तियों की आवाजें आ रही हैं। उदाहरणार्थ, एक लड़का अपने सहपाठी के पास

एक सुन्दर कलम देखता है। भीतर से कोई एकदम बोल उठता है—'इस कलम को चुरा लो।' इतने में दूसरी आवाज आती है—'कोई देख लेगा तो . . . ?' और जब लड़का दण्ड से बचने का उपाय सोचने लगता है तो एक तीसरी आवाज बोल उठती है—'सावधान ! ध्यान रखो, चोरी करना पाप है।' इन तीनों आवाजों को क्रमशः 'इद' 'ईगो' और 'सुपर-ईगो' की आवाज कही जा सकती है। 'इद' का कार्यक्षेत्र अचेतन मन है और शेष दोनों का चेतन (conscious) मन। 'लिबिडो' वासना की एक लहर पैदा करती है और 'इद' वासना के उस संवेग को पूर्णता के लिए 'ईगो' के पास भेजता है। यदि 'ईगो' उसे उचित नहीं मानता, तो वापस 'इद' के पास भेज देता है और वहाँ वह संवेग जाकर दमित हो जाता है। यदि 'ईगो' के सेंसर की कैंची से वह संवेग बच गया, तो वह 'सुपर-ईगो' के पास भेजा जाता है, जहाँ 'सुपर-ईगो' नैतिक और सामाजिक मानदण्डों के आधार पर उस संवेग के औचित्य का परीक्षण करता है। यदि 'सुपर ईगो' ने उसे उचित नहीं माना तो वह पुनः 'इद' के पास अचेतन में ठेल दिया जाता है, जहाँ जाकर वह दमित हो जाता है। जिस व्यक्ति के जीवन में 'इद', 'ईगो' और 'सुपर-ईगो' का तालमेल होता है, उसका व्यक्तित्व समग्रता को प्राप्त होता है, पर अधिकांशतः इन तीनों में विरोध रहता है और फल-स्वरूप वासनाओं के संवेग अचेतन में जाकर निरन्तर दमित होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे दमित संवेग मिलकर मन में कुण्ठा या ग्रन्थि का निर्माण करते हैं, जो व्यक्ति के जीवन में मनस्ताप (न्यूरोसिस) को जन्म देती है। ऐसी कुण्ठाओं के फलस्वरूप मनुष्य

का व्यक्तित्व खण्डित होने लगता है और वह विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों से आक्रान्त हो जाता है। समाज या पुलिस के भय से वह अपने मन में उठनेवाली वासनाओं को तृप्त नहीं कर पाता, उन्हें वह बलपूर्वक दबाता रहता है। पर जब वह सो जाता है, तब ये वासनाएं स्वप्न में अपनी पूर्ति ढूंढ़ती हैं। स्वप्न मन की वह अवस्था है, जहाँ चेतन मन का नियंत्रण नहीं रहता। इसे फ्रायड ने subconscious (अवचेतन) कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रकार वे मन की तीन अवस्थाएँ मानते हैं—चेतन अवचेतन और अचेतन। फ्रायड ने यह भी बतलाया कि मनुष्य के रोगों का अस्सी प्रतिशत मन से सम्बन्धित होता है और इसीलिए मात्र शरीर की चिकित्सा करने से रोग दूर नहीं हो पाते। जब तक मन की चिकित्सा नहीं होगी, तब तक रोग दूर नहीं होगा; और मन की चिकित्सा करने के लिए उसके रोग को पकड़ना होगा, रोग के कारण को जानना होगा। रोग के कारण को जानने के लिए रोगी के अचेतन में झाँकना होगा। इसके लिए उन्होंने सम्मोहन विधि का प्रयोग कर रोगी के चेतन मन को सुला दिया और उसके अचेतन को जगा दिया। इस प्रकार रोग के कारण को पकड़ने में वे समर्थ हुए। उन्होंने देखा कि रोग के मूल में रोगी की दमित भावनाएँ थीं, जिन्होंने मनोग्रन्थि का रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार फ्रायड ने मनोचिकित्सा को जन्म दिया, जिसके कारण वे शीघ्र ही विश्व में छा गये।

यद्यपि मनोचिकित्सा के क्षेत्र में फ्रायड की देन बहुत बड़ी है, तथापि उन्होंने जो यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'लिबिडो' (सुप्त कामेच्छा) ही मनुष्य की

हर क्रिया का मूलाधार है, उसने व्यक्ति के जीवन में और भी विकृति ला दी। जब यह सिद्धान्त प्रचारित किया गया कि माताएँ जब अपने शिशुओं को स्तन-पान कराती हैं, तो उसके मूल में यह प्रसुप्त कामेच्छा ही कार्य कर रही होती है, तब फ्रांस में नारियों ने अपने बच्चों को दूध पिलाना बन्द कर दिया और धीरे-धीरे वह हवा विश्व भर में फैल गयी। फ्रायड की दृष्टि में मनुष्य जो अच्छा काम भी करता देखा जाता है, उसके मूल में यह 'लिबिडो' होता है। वे मनुष्य को मात्र मनोग्रन्थियों के एक पुंज के रूप में देखते हैं, जिसकी कुण्ठाएँ उसके व्यवहार में प्रकट होती रहती हैं। ये कुण्ठाएँ ही मनोरोगों को जन्म देती हैं। और, जैसा कि पूर्व में हमने कहा है, मनुष्य के अस्सी प्रतिशत से अधिक रोग उसके मन से सम्बन्धित होते हैं, जो अपना प्रभाव शरीर पर डालते हैं। पहले चिकित्सक शरीर को रोगी देखकर शरीर की ही चिकित्सा करता था, पर इससे रोग ठीक नहीं होते थे। वह फ्रायड की प्रतिभा थी, जिसने देखा कि रोग का कारण मन में होने के कारण जब तक मन की चिकित्सा नहीं होगी, रोगी ठीक नहीं होगा। उन्होंने ऐसे रोगों को मनोभौतिक (paycho-somatic) कहा। यह psycho-somatic' शब्द ग्रीक के 'psyche' (मन) और Soma' (शरीर) को मिलाकर बना है। इस प्रकार 'मनोभौतिक-चिकित्साप्रणाली' का जन्म हुआ, जिसके मूल में फ्रायड की ही प्रतिभा रही। वैसे भारतीय मनोविज्ञान अति प्राचीन काल से मन और शरीर के रोगों के लिए क्रमशः 'आधि' और 'व्याधि' शब्दों का प्रयोग करता रहा है, तथापि पश्चिमी मनोविज्ञान के क्षेत्र

में यह एक जबर्दस्त क्रान्ति थी और ऐसा लगने लगा कि फ्रायड मानव-मन की विकृतियों को उजागर कर उन्हें दूर कर देंगे।

किन्तु यह हुआ नहीं। फ्रायड ने मानव-मन की विकृतियों को उजागर अवश्य किया, पर वे उन्हें दूर करने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने मन की छिपी गन्दगी को अवश्य आँखों के सामने लाकर रखा, पर उस गन्दगी को साफ करने का उपाय वे नहीं दे पाये। यही पश्चिमी मनोविज्ञान की असमर्थता है और उसकी विडम्बना भी। उसने मनोविश्लेषण (mental analysis) का रास्ता तो बताया, पर मनःसंश्लेषण (mental synthesis) कैसे किया जा सकता है इसका उपाय नहीं बतला सका। उसने 'जिन' को बोतल से बाहर तो निकाल दिया, पर यह नहीं सुझा सका कि उसे अपने नियंत्रण में कैसे रखा जाय। उसने यह तो बताया कि 'लिबिडो' का वासनाओं के संवेग का शमन (suppression) और दमन (repression) ग्रन्थियां (complexes) का निर्माण कर हानिकारक और मनोरोग का कारण होता है, पर यह नहीं बताया कि यदि मनोरोग के डर से वासनाओं को खुली छूट (free expression) दे दी जाय, तो उससे क्या अन्य प्रकार की कुण्ठाएँ नहीं जन्म लेतीं? मान लीजिए किसी नारी को देखकर एक पुरुष के मन में काम का संवेग जन्म लेता है। आज यदि वह उसे दबा देता है तो मनोरोग का शिकार होता है, और यदि इससे बचने के लिए वह काम के अपने इस संवेग को खुली छूट देता है तो क्या समाज उसे इसकी स्वीकृति प्रदान करेगा? उस पुरुष तथा उस महिला के परिवारजन उसके इस कृत्य का समर्थन करेंगे? क्या

पुलिस उसके कृत्य को अनदेखा करेगी ? क्या वह अपने इस दुष्कृत्य से अपने आसपास रोग का ही संक्रमण नहीं करेगा ?

सम्भवत: फ्रायड के पास इसका कोई उत्तर नहीं है।

फिर, क्या जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति रुझान से उत्पन्न होनेवाली उदात्त क्रियाएँ भी 'लिबिडो' की ही बहिरभिव्यक्तियाँ हैं ? फ्रायड कहेंगे—"हाँ," उनकी दृष्टि में भावना का उदात्तीकरण (sublimation) भी, धर्म आदि की भावना भी काम के ही संवेग का प्रतिरूप है। किन्तु वे अपने शिष्यद्वय युंग और एडलर को भी अपनी इस धारणा के कायल नहीं कर सके और वे दोनों इसी बिन्दु पर अपने गुरु फ्रायड से कटकर अलग हो गये। जो हो, पश्चिमी मनोविज्ञान सामान्य तौर पर मन की गन्दगी और कुण्ठाओं को मिटाने की कोई सार्थक दवा नहीं दे पाता। इसका कारण यह है कि वह ऐसे किसी तत्त्व में विश्वास नहीं करता, जो मन से परे हो और मन को अपने नियंत्रण में लेने की क्षमता रखता हो। फ्रायड मन की दानवता को तो उभाड़ सकते हैं, पर इसमें उनका विश्वास नहीं कि उस मन में देवत्व भी भरा है। इसीलिए वे बुद्ध और ईसा जैसे महामानवों के उदात्त मन की कोई व्याख्या नहीं दे पाते। जिस धर्म की सहायता से इन महामानवों का मन देवत्व की अभिव्यक्ति का माध्यम बना, उसमें फ्रायड की कोई आस्था नहीं थी। उनकी दृष्टि में जीवन का लक्ष्य pursuit of pleasure (सुख का सम्पादन) था, pursuit of perfection (पूर्णता का सम्पादन) नहीं। वे धर्म अथवा पूर्णता की प्रेरणा को pleasing illusion (सम्मोहक भ्रम) कहते हैं।

वे अपने 'The Future of Illusion' नामक ग्रन्थ में religion (धर्म) को 'human being's great obsessional neurosis' (मनुष्य का महा हठीला मनस्ताप) कहते हैं और अपने 'Beyond the Pleasure Principle' ग्रन्थ में लिखते हैं—"I see no way of preserving the pleasing illusion"—अर्थात् 'मैं इस सम्मोहक भ्रम को कायम रखने का कोई तरीका नहीं देखता।' फिर, एक स्थान पर यह भी कहते हैं—"If I cannot influence the celestial gods, I will set in motion the infernal regions"—'यदि मैं स्वर्ग के देवताओं को प्रभावित नहीं कर सकता, तो नारकीय लोकों को तो अवश्य ही गतिशील बना दूँगा।' और वह तो उन्होंने किया ही। शमन और दमन के नाम पर संयम की धज्जियाँ उड़ा दी गयीं, कुण्ठाओं और मनोग्रन्थियों के नाम पर वासनाओं को खुली छूट दे दी गयी, 'सम्मोहक भ्रम' को तोड़ने के नाम पर मनुष्य को अनास्था का शिकार बना दिया गया और प्रगतिशीलता के नाम पर उन्मुक्त यौनाचार और दुराचार ही मनुष्य के पास बच रह गया। आज पश्चिम का मनुष्य इसी दिशाहीनता में भटक रहा है, फलतः वह बुरी तरह मानसिक उद्वेगों और तनावों का शिकार हो गया है। भौतिकवाद ने प्राचुर्य के अभिशाप (curse of plenty) को जन्म दिया है, जो मनुष्य को भीतर से खोखला बनाये दे रहा है।

यहाँ पर एक घटना स्मरण में आती है। जब डा० राधाकृष्णन् रूस के राजदूत बनाकर भेजे गये और जब वे अपना परिचय-पत्र देने स्टालिन से मिले, तो स्टालिन ने उनसे कहा, "हमारा देश आप लोगों को

पक्षियों के समान आकाश में उड़ना तथा मछलियों के समान पानी में तैरना सिखाएगा।" झट डा० राधाकृष्णन् उत्तर में बोले, "यह तो ठीक है, महामहिम, लेकिन हमारा देश आप लोगों को मनुष्य के समान धरती पर चलना सिखाएगा!"

तो, पश्चिमी मनोविज्ञान भले ही मनोविश्लेषण के द्वारा मनोरोगों की मीमांसा कर ले, पर उन रोगों को दूर करने का उपाय भारत के योग और वेदान्त के पास है। भारतीय मनोविज्ञान भी मनोविश्लेषण करना जानता है. पतंजलि ने अपने 'योगसूत्रों' में जिस सूक्ष्मता के साथ मन का विश्लेषण किया है और मन की जिन गहराइयों में वे उतरे हैं, पश्चिमी मनोविज्ञान उन गहराइयों को नहीं छू सका है। इसके साथ ही भारतीय मनोविज्ञान ने मन:संश्लेषण का भी उपाय हमारे सामने रखा है, जिससे हमारे व्यक्तित्व की समग्रता (Integration of Personality) साधित हो सके।

पश्चिमी और भारतीय मनोविज्ञान में अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम का प्रारम्भ रोगी मन के निरीक्षण से हुआ, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान पूर्णता-प्राप्त मन की जिज्ञासा से शुरु हुआ। फ्रायड ने केवल रोगी मन ही देखे, उनके समक्ष ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो उन्हें 'पूर्ण-मन' की कल्पना भी दे सके। इधर महर्षि पतंजलि 'निश्चल मन' के विवरण से ही अपनी खोज प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार भारतीय योग और वेदान्त चित्त की वृत्तिहीन स्थिति को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य प्रतिपादित करता है। यही 'चित्तवृत्तियों के निरोध' की, आत्मा में स्थित होने की, मन के अतिचेतन स्तर

पर पहुँचने की अवस्था है, जिसे वेदान्त ने 'तुरीय' नाम देकर मन की 'चौथी अवस्था' कहा है। मन की तीन अवस्थाओं की चर्चा की जा चुकी है। फ्रायड इन्हें conscious (चेतन), subconscious (अवचेतन) और unconscious (अचेतन) कहकर पुकारते हैं। वे मन की कोई चौथी अवस्था स्वीकार नहीं करते, पर जैसा हम कह चुके हैं, योग-वेदान्त इन तीनों के ऊपर एक चौथी अवस्था मानता है, जिसे superconscious (अति-चेतन) कहा गया है। चेतन, अवचेतन और अचेतन क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का प्रति-निधित्व करते हैं, जबकि अतिचेतन, तुरीय या निर्विकल्पक समाधि अवस्था का। इस अतिचेतन को प्राप्त होने से अन्य तीनों अवस्थाएँ ताबे में आ जाती हैं। फलस्वरूप. मनोग्रन्थि टूट जाती है ('भिद्यते हृदयग्रन्थिः'), सारे संशय नष्ट हो जाते हैं ('छिद्यन्ते सर्वसंशयाः') और व्यक्ति पूर्ण (Perfect) हो जाता है। यही मन को जीतने की अवस्था है। पर फ्रायड का इस पर विश्वास नहीं है।

भारतीय मनोविज्ञान कर्म के साथ कर्म-संस्कारों को भी मान्यता देता है। ये कर्म-संस्कार ही मानव-जीवन को बनाते या बिगाड़ते हैं। जो कर्म हम करते हैं, उसका क्रिया-पक्ष तो भौतिक होने के कारण कर्म के साथ ही समाप्त हो जाता है, पर उसका मन पर जो प्रभाव पड़ा, वह मानसिक संस्कार के रूप में बच रहता है। इसी को कर्म-संस्कार कहते हैं। यदि मैंने किसी असहाय विधवा की शुद्ध भाव के साथ सहायता की, तो उसका एक प्रकार का संस्कार बनेगा और यदि उस सहायता के पीछे मेरे मन में कोई वासना है, तो उसका संस्कार

एकदम भिन्न होगा। बाह्य क्रिया दोनों दशाओं में एक-समान है, पर क्रिया के पीछे उसकी प्रेरक भावना की भिन्नता के कारण सहायतारूप कर्म के संस्कार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जाग्रत् अवस्था में किये गये कर्मों के ही संस्कार बनते हैं। जिस क्रिया के पीछे कोई भावना न हो, उसका संस्कार नहीं बनता। ये कर्म-संस्कार हमारे मन के अचेतन में जाकर संचित हो जाते हैं, जहाँ पर पहले से ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार दबे पड़े हैं। यह अचेतन ही हमारे मनोरोगों के बीजों का खजाना है। भारतीय मनोविज्ञान इस खजाने के दो भाग करता है—एक नीचे का भाग जिसमें पूर्वजन्मों के संस्कार संचित हैं और दूसरा, ऊपर का भाग जिसमें वर्तमान जीवन के संस्कार आकर जमा होते हैं। पश्चिमी मनोविज्ञान मन की चिकित्सा में सम्मोहन-विधि से या मनोरोगी का विश्वास अर्जित कर अचेतन को जो जगाता है, तो वह केवल उस खजाने के ऊपरी भाग को ही जगाने में समर्थ होता है, उसके नीचे के भाग को नहीं। यही कारण है कि वह मन को ताबे में लाना असम्भव मानता है। जब तक पूरा अचेतन ही नहीं जगा दिया जाता है, तब तक मन को वश में नहीं लाया जा सकता। भारतीय मनोविज्ञान इस समूचे अचेतन को, इस खजाने के दोनों भागों को जगाने की पद्धति सामने रखता है, जिससे मनोनिग्रह सध सके। अचेतन को जगाने में समर्थ होने का अर्थ है उसे अपनी पकड़ में ले आना।

स्वामी विवेकानन्द अचेतन को पकड़ने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"हमारे सामने बहुत बड़ा कार्य है, और इसमें सर्व-प्रथम और सबसे महत्त्व का काम है, अपने सहस्रों सुप्त

संस्कारों पर अधिकार चलाना, जो अनैच्छिक सहज क्रियाओं में परिणत हो गये हैं। यह बात सच है कि असत्-कर्मसमूह मनुष्य के जाग्रत् क्षेत्र में रहता है, लेकिन जिन कारणों ने इन बुरे कामों को जन्म दिया, वे इसके पीछे प्रसुप्त और अदृश्य जगत् के हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।

"व्यावहारिक मनोविज्ञान प्रथम हमें यह सिखलाता है कि हम अपने अचेतन मन का नियन्त्रण किस तरह कर सकते हैं। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों? इसलिए कि हम जानते हैं, चेतन मन ही अचेतन मन का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने चेतन विचार और चेतन कार्य थे, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अचेतन विचार बन जाते हैं। हमारा उधर ख्याल ही नहीं जाता, हमें उनका ज्ञान नहीं होता, हम उन्हें भूल जाते हैं। लेकिन देखो, यदि प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों में बुरा करने की शक्ति है, तो उनमें अच्छा करने की भी शक्ति है। हमारे भीतर नाना प्रकार के संस्कार भरे पड़े हैं——मानो एक जेब में बहुत सी चीजें बँधी हुई हैं। उन्हें हम भूल गये हैं, हम उनका विचार तक नहीं करते। उनमें से बहुत से तो वहीं पड़े सड़ते रहते हैं और सचमुच भयावह बनते जाते हैं। वे ही प्रसुप्त कारण एक दिन मन के ज्ञानयुक्त क्षेत्र पर आ उठते हैं और मानवता का नाश कर देते हैं। अतएव सच्चा मनोविज्ञान उनको चेतन मन के अधीन लाने का प्रयत्न करेगा। अतएव महत्त्वपूर्ण बात है, पूरे मनुष्य को पुनरुज्जीवित जैसा कर देना, जिससे कि वह अपना पूर्ण स्वामी बन जाय। शरीरान्तर्गत यकृत आदि इन्द्रियों की स्वतःप्रवृत्त क्रियाओं को भी हम अपनी आज्ञापालक बना सकते हैं।

"अचेतन को अपने अधिकार में लाना हमारी साधना का पहला भाग है। दूसरा है चेतन के परे जाना। जिस तरह, अचेतन चेतन के नीचे—उसके पीछे रहकर कार्य करता रहता है, उसी तरह चेतन के ऊपर—उसके अतीत भी एक अवस्था है। जब मनुष्य इस अतिचेतन अवस्था को पहुँच जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है, ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। तब मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है और अज्ञान की लौह-शृंखलाएँ मुक्ति बन जाती हैं। अतिचेतन का यह असीम राज्य ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।

"अतएव यह स्पष्ट है कि हमें दो कार्य अवश्य ही करने होंगे। एक तो यह कि इड़ा और पिंगला के प्रवाहों का नियमन कर अचेतन कार्यों को नियमित करना; और दूसरा, इसके साथ ही साथ चेतन के भी परे चले जाना।

"ग्रन्थों में कहा है कि योगी वही है, जिसने दीर्घकाल तक चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके इस सत्य की उपलब्धि कर ली है। अब सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और इस मार्ग में वह प्रवाह प्रवेश करता है, जो इसके पूर्व उसमें कभी नहीं गया था। वह (जैसा कि आलंकारिक भाषा में कहा है) धीरे-धीरे विभिन्न कमल-चक्रों में से होता हुआ, कमलदलों को खिलाता हुआ अन्त में मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। तब योगी को अपने सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह जान लेता है कि वह स्वयं परमेश्वर ही है।

"हममें से प्रत्येक व्यक्ति, बिना किसी अपवाद के, योग की इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

लेकिन यह अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि मनुष्य को इस सत्य का अनुभव करना हो, तो उसे केवल वक्तृता सुनने और श्वासोच्छ्वास की थोड़ी सी क्रियाओं का अभ्यास करने के अतिरिक्त कुछ और विशेष साधनाएँ भी करनी होंगी। महत्त्व है तैयारी ही का। दीपक जलाने में कितनी देर लगती है? केवल एक सेकण्ड। लेकिन उस मोमबत्ती को बनाने में कितना समय लग जाता है! खाना खाने में कितनी देर लगती है? शायद आधा घण्टा। लेकिन वही खाना पकाने के लिए कितने घण्टे लग जाते हैं! हम चाहते हैं कि दीप एक क्षण में जल उठे, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि मोमबत्ती बनाना ही तो मुख्य है।"*

स्वामी विवेकानन्द ने अपने उपर्युक्त कथन में जिस साधन-प्रणाली का निर्देश किया है, वही इस छठे अध्याय में प्रदर्शित हुआ है। इस योगसाधन की हमने पूर्व प्रवचनों में विस्तार से चर्चा की है। इसके द्वारा हम अपने अवचेतन मन को मानो साफ करते हैं। जब हम स्याही की पुरानी दावात को धोते हैं, तो पहले कितना गन्दा पानी निकलता है। सूखी स्याही धीरे धीरे घुलकर निकलने लगती है। ज्यों ज्यों हम साफ करते हैं, पानी का रंग हल्का होता है और जब हम दावात को पूरी तरह से साफ कर लेते हैं, तब पानी वैसा ही साफ निकलता है जैसा दावात में डाला गया था। अवचेतन मन की सफाई में भी ऐसा ही होता है। हम मन में पवित्र विचार ढालते हैं और उनको हम अपने भीतर गहराई तक उतरने देते हैं। पवित्र विचार साफ पानी के समान है। यदि किसी

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ३, पृष्ठ १२०-२२।

अवस्थाविशेष में हमारे भीतर से स्याह-जल बाहर निकले, तो उससे हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। हमें लगातार अपने भीतर पवित्र विचार ढालते रहना चाहिए। इससे एक समय ऐसा आएगा, जब केवल पवित्र विचार ही हमारे भीतर से बाहर आएँगे। तब समझा जा सकता है कि अवचेतन मन साफ हो गया है। अवचेतन मन की सफाई की कसौटी है हमारी स्वप्नावस्था। जब सपने में भी कोई बुरा विचार मन में न उठे, तो समझ लेना चाहिए कि हमारा अवचेतन मन पूरी तरह से धुल गया है। ऐसा होने पर चेतन मन भी फिर आसानी से हमारे नियंत्रण में आ जाता है।

इसके लिए अभ्यास अनिवार्य है। फिर, अभ्यास में निरन्तरता चाहिए। ऐसा नहीं कि दो दिन अभ्यास किया और एक दिन विश्राम ले लिया। वास्तव में हमें मन के पीछे लगे रहना पड़ता है। जैसे हम शिशु के हठ को स्वीकारते हुए भी उसे सतत संस्कारित करने का प्रयत्न करते रहते हैं, वैसा ही हमें मन के साथ भी करना पड़ता है। हम अभ्यास के द्वारा मन को उचित वर्तन सिखाते हैं। जैसे एक उच्छृंखल और अनियंत्रित घोड़े को अभ्यास से साधा जाता है, वैसे ही मन को भी। स्वामी विवेकानन्द इस अभ्यास का व्यावहारिक रूप हमारे सामने रखते हैं। वे कहते हैं——

''मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त करने के पूर्व हमें उसका भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए।

''चचल मन को संयत करके उसे विषयों से खींचना होगा और उसे एक विचार में केन्द्रित करना होगा। बार

बार इस क्रिया को करना आवश्यक है। इच्छाशक्ति द्वारा मन को वश में करके उसकी क्रिया को रोककर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए।

"मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है, चुपचाप बैठ जाना और उसे कुछ क्षण के लिए वह जहाँ जाय जाने देना। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो—'मैं मन को विचरण करते हुए देखनेवाला साक्षी हूँ, मैं मन नहीं हूँ।' पश्चात् मन को ऐसा सोचता हुआ कल्पना करो कि मानो वह तुमसे बिलकुल भिन्न है। अपने को ईश्वर से अभिन्न मानो, मन अथवा जड़पदार्थ के साथ एक करके कदापि न सोचो। सोचो कि मन तुम्हारे सामने एक विस्तृत तरंगहीन सरोवर है और आने-जानेवाले विचार इसके तल पर उठनेवाले बुलबुले हैं। विचारों को रोकने का प्रयास न करो, वरन् उनको देखो और जैसे जैसे वे विचरण करते हैं, वैसे वैसे तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया धीरे धीरे मन के वृत्तों को सीमित कर देगी। कारण यह है कि मन विचार की विस्तृत परिधि में घूमता है और ये परिधियाँ विस्तृत होकर निरन्तर बढ़नेवाले वृत्तों में फैलती रहती हैं, ठीक वैसे ही जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर होता है। हम इस क्रिया को उलट देना चाहते हैं और बड़े वृत्तों से प्रारम्भ करके उन्हें छोटा बनाते चले जाते हैं, जिससे कि अन्त में हम मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके उसे वहीं रोक सकें। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो—'मैं मन नहीं हूँ, मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन तथा अपनी क्रिया का अवलोकन कर रहा हूँ।' प्रतिदिन मन और भावना से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जायगा, यहाँ तक कि

अन्त में तुम अपने को मन से बिलकुल अलग कर सकोगे और वास्तव में इसे अपने से भिन्न जान सकोगे।

"इतनी सफलता प्राप्त करने के बाद मन तुम्हारा दास हो जायगा और तुम उसके ऊपर इच्छानुसार शासन कर सकोगे। इन्द्रियों से परे हो जाना योगी की प्रथम स्थिति है। जब वह मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है।"*

जब हम यह अभ्यास निष्ठापूर्वक शुरू करते हैं, तब एक बड़ी बाधा हमारे मन में आती है और वह है गन्दे विचार। जो कभी हमने कल्पना भी नहीं की थी ऐसे घिनौने और कुत्सित विचार मन की सतह पर उभर आते हैं और हमारा मन विक्षिप्त हो जाता है। हम सोचने लगते हैं कि इससे तो हम तभी अच्छे थे जब अभ्यास नहीं शुरू किया था; क्योंकि तब हमारा मन इतना खराब तो नहीं होता था। और ऐसा सोचकर हम अभ्यास छोड़ने का विचार करने लगते हैं। एक भक्त ऐसी समस्या से परेशान हो श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचा और उनसे सारी बातें निवेदित कीं। श्रीरामकृष्ण ने उसे उत्साह देते हुए एक सरोवर का दृष्टान्त दिया, जो कीचड़ से भरा था, पर जिसका जल निर्मल दिखता था। उसमें कोई एक कंकड़ी भी फेंक दे तो धीरे-धीरे नीचे से गन्दगी ऊपर आकर जल को गँदला करने लगती थी। गाँव के लोगों ने निश्चय किया कि सरोवर के कीचड़ को साफ करेंगे। लोग जैसे-जैसे साफ करते गये, जल अधिकाधिक गँदला होता गया। अब एक स्थिति यह भी हो सकती थी कि जल को पहले से भी

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ४, पृष्ठ ९०-९१।

अधिक गँदला देख गाँववाले सरोवर को साफ करना ही बन्द कर देते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे साफ करने में लगे रहे और जब सरोवर साफ हो गया, तब उसमें कई हाथी भी उतर जायँ, जल गँदला होने का नहीं।

श्रीरामकृष्ण यह उदाहरण देकर भक्त को अपना अभ्यास जारी रखने का निर्देश देते हैं और सुझाव देते हैं कि गन्दे विचारों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, उनके प्रति उदासीनता बरतनी चाहिए, उपेक्षा का भाव रखना चाहिए और अभ्यास के क्रम को बनाये रखना चाहिए। इससे गन्दे विचारों का उठना धीरे-धीरे कम हो जाएगा और एक दिन बन्द ही हो जाएगा।

जब मैं वसिष्ठ गुफा में था, स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी के निर्देशन में साधना कर रहा था। एक दिन रामकृष्ण मठ-मिशन से सम्बन्धित मेरे परिचित एक भक्त वहाँ आये। अकस्मात् मुझसे भेंट हो जाने से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें ध्यान का अभ्यास जम नहीं रहा था। किसी से उन्होंने पुरुषोत्तमानन्दजी के बारे में सुना और उनसे मार्ग-दर्शन लेने वहाँ आ उपस्थित हुए। स्वामीजी के सामने उन्होंने अपनी समस्या रखी। स्वामीजी ने उनको अभ्यास का उपाय बतलाते हुए कहा, "देखो, तुम तो श्रीरामकृष्णदेव के उपासक हो। तुम्हें अपने गुरु से जो इष्टमंत्र मिला है, तुम अपने मन को उसी में—अपने इष्ट के नाम-रूप-लीला-धाम में लगाये रखना। तुम कहते हो कि तुम्हारा मन एक जगह बैठता नहीं। वह कैसे बैठेगा? उसका तो स्वभाव ही चंचल रहना है। मन में बड़ा वेग है, तुम अकस्मात् उसे वेग-

शून्य कैसे कर सकते हो ? मन जब घूमना ही चाहता है तो उसे तुम घूमने का एक locus (घेरा) दे दो। श्रीरामकृष्ण से सम्बन्धित जितने भी स्थान हैं, वे उनके धाम हैं। तुम मन को उन स्थानों में चक्कर लगाने दो। श्रीरामकृष्ण ने वहाँ-वहाँ पर जो लीलाएँ की थीं, मन में उन्हें उठाओ। इस प्रकार उन सभी स्थानों में वे ही दिखाई देंगे। नौबतखाने में, बाबू की कोठी की छत के ऊपर, गंगा के घाट पर, फुलवारी में, कालीमन्दिर में राधाकान्त और द्वादश शिवमन्दिरों में, बेलतला में, पंचवटी में मन को घूमने दो। उनके कमरे में मन विभिन्न भक्तों के साथ उनके दर्शन करता रहे, उनका वार्तालाप सुनता रहे। इस तरह मन को इस एक 'लोकस' (locus) में, उनके धाम के घेरे में बाँध दो। मुख से उनका नाम जपो, मन की आँखों से सतत उन्हें और उनकी लीलाओं को देखते रहो। देखोगे, इस अभ्यास से मन क्रमशः श्रीरामकृष्ण में अधिकाधिक एकाग्र होता जाएगा, घेरा सिमटता जाएगा और एक अवस्था ऐसी आएगी जब केवल वे ही रहेंगे।"

अभ्यास का यह एक दूसरा प्रकार है। यहाँ पर साधक अपने-अपने इष्टदेवता के नाम-रूप-लीला-धाम की साधना कर सकते हैं।

माँ सारदा अपनी खाट पर बैठी हुई भक्तों से आयी चिट्ठियाँ सुन रही थीं। चिट्ठियों में कुछ ऐसे कथन थे—'मन को वश में नहीं किया जा सकता', आदि-आदि। माँ इन पत्रों को सुनकर आवेग-भरे स्वर में कहने लगीं, "यदि कोई रोज पन्द्रह से बीस हजार तक जप करता है, तो मन स्थिर होता है। यह बिलकुल

सत्य है । मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है । पहले ये लोग इसका अभ्यास तो करें और यदि असफल हो जायँ तो भले ही शिकायत करें । भक्तिपूर्वक जप का अभ्यास करना चाहिए । पर यह तो ' करेंगे नहीं; वे करेंगे कुछ नहीं और शिकायत करते रहेंगे, 'मैं सफल क्यों नहीं हो रहा हूँ' ?"

यह अभ्यास का एक तीसरा प्रकार है । पर यहाँ एक चेतावनी की बात यह है कि जिसने अभ्यास अभी शुरू किया है, उसके लिए अचानक एक दिन में भगवान् के नाम का बीस हजार जप करना उचित नहीं है । पहले अपनी शक्ति को देखते हुए साधक गुरु के निर्देशानुसार जप की संख्या बाँध ले, फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाता रहे ।

मनोनिग्रह की इस जप-साधना में ईश्वर के प्रति प्रेम एक आवश्यक उपादान है । यह प्रेम कैसे लाया जाए ? मनोनिग्रह की साधना को कम संघर्षयुक्त कैसे बनाया जाए ? श्रीरामकृष्ण इसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं——

"जिन लोगों का मन इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, उनके लिए सबसे उत्तम यही है कि वे द्वैतवादी दृष्टिकोण अपनाएँ और भगवान् के नाम का 'नारदपांचरात्र' के निर्देशानुसार जोरों से कीर्तन करें ।"

एक दूसरे अवसर पर उन्होंने एक भक्त से कहा था——"भक्ति-पथ के द्वारा इन्द्रियाँ शीघ्र और स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण में आती हैं । जैसे-जैसे तुम्हारे हृदय में ईश्वरीय प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे तुम्हें दुनिया के सुख अलोने मालूम पड़ेंगे । जिस दिन अपना बच्चा मर गया हो, उस दिन देह का सुख क्या पति और पत्नी को आकर्षित कर सकता है ?"

भक्त—पर मैंने ईश्वर को प्यार करना तो नहीं सीखा ?

श्रीरामकृष्ण—सतत उनका नाम लो। इससे तुम्हारा सारा पाप, काम और क्रोध धुल जाएगा तथा दैहिक सुखों की लालसा दूर हो जाएगी।

भक्त—पर मुझे उनके नाम में तो कोई रस नहीं मिलता ?

श्रीरामकृष्ण—उन्हीं के पास आकुल होकर प्रार्थना करो, जिससे तममें उनके नाम के लिए रुचि उत्पन्न हो। उनसे कहो, 'प्रभो, मुझे तुम्हारे नाम में कोई रुचि नहीं होती है।' देखोगे, वे अवश्य ही तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे...। यदि सन्निपात का रोगी भोजन का सारा स्वाद गंवा बैठे, तो उसके बचने की आशा नहीं। पर यदि वह भोजन में तनिक भी रस लेता है, तो तुम उसके अच्छे होने की आशा रख सकते हो। इसीलिए मैं कहा करता हूँ—उनके नाम में रस का अनुभव करो। कोई भी नाम ले लो—दुर्गा, कृष्ण, चाहे शिव। यदि दिन-दिन तुम अपने भीतर उनके नाम के प्रति अधिकाधिक आकर्षण का अनुभव करो और तुम्हें अधिक आनन्द मिलने लगे, तो फिर डरने की कोई बात नहीं। सन्निपात को दूर करना ही होगा; देखोगे, तुम पर उनकी कृपा अधिक बरसेगी।

मनोनिग्रह का यही मनोविज्ञान है।

○

अबुझमाड़ प्रकल्प समाचार

विवेकानन्द आरोग्य धाम के अन्तःचिकित्सा विभाग (इनडोर विंग) का उद्घाटन

आपके इस आश्रम के द्वारा बस्तर जिले के अबुझमाड़ क्षेत्र की सेवा के लिए नारायणपुर में बेस कैम्प बनाकर उसके अपने अबुझमाड़ ग्रामीण विकास प्रकल्प के अन्तर्गत जो सेवा की गतिविधियाँ चलायी जा रही हैं, उनमें एक नया आयाम १५ मई १९८९ को और जुड़ गया, जब मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री, माननीय श्री मोतीलालजी वोरा ने विवेकानन्द आरोग्य धाम के अन्तःचिकित्सा विभाग का— ३० शय्यावाले इनडोर अस्पताल का—विधिवत् उद्घाटन सम्पन्न किया। यह चिकित्सालय ३०० एमए की एक्स-रे मशीन, ई. सी. जी. यूनिट, पैथालॉजिकल लेबोरेटरी, प्रसव विभाग, वातानुकूलित आपरेशन थियेटर तथा सघन चिकित्सा कक्ष (इंटेंसिव केयर रूम) आदि आधुनिक उपकरणों से युक्त है।

माननीय मुख्यमंत्रीजी ने इस अवसर पर विवेकानन्द वनवासी युवा प्रशिक्षण केन्द्र भवन का शिलान्यास भी किया।

विवेकानन्द विद्यापीठ

पिछले वर्ष (१९८७-८८) की भाँति इस वर्ष (१९८८-८९) भी विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्रों ने कमाल किया है। इस वर्ष विद्यापीठ ने कांकेर शिक्षा जिला की प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा में ११ छात्रों की अपनी दूसरी टोली भेजी थी। इनमें ९ छात्रों ने प्रावीण्य-सूची में स्थान प्राप्त किया है। यही नहीं, पहला और दूसरा आनेवाले छात्रों ने समूचे बस्तर सम्भाग में भी प्रथम और द्वितीय स्थान प्राप्त कर विद्यापीठ को गौरवान्वित किया है। प्रथम स्थान प्राप्त करने वाला चि. बुधराम अबुझमाड़ का रहनेवाला है और उसने तो एक अबुझमाड़िया के रूप में सारे कीर्तिमान तोड़कर नया कीर्तिमान स्थापित किया है। ये ग्यारहों छात्र आदिवासी हैं। उनके द्वारा प्राप्त गुणांक और अन्य विवरण निम्नलिखित हैं:—

क्र.	नाम	जनजाति	प्राप्तांक%	प्रावीण्य-सूची में प्राप्त स्थान
१.	बुधराम	माड़िया	९५%	१ ला
२.	रामधर (आत्मज कारूराम)	गोंड़	९३.५%	२ रा
३.	गोकुलप्रसाद	हल्बा	९०%	५ वाँ
४.	राजेन्द्रकुमार	गांडा	८९.५%	६ वाँ
५.	मतमनसिंह	गोंड़	८८%	७ वाँ
६.	रामेश्वर	हल्बा	८६.५%	८ वाँ
७.	महेन्द्रकुमार	,,	८६.५%	,,
८.	घनश्याम	,,	८२.५%	१७ वाँ
९.	रामधर (आत्मज महारसिंह)	गोंड़	८०%	१९ वाँ
१०.	विश्वनाथ	हल्बा	७९%	—
११.	नरेशकुमार	गोंड़	७३.५%	—

मुख्यमंत्रीजी का सम्बोधन

मुख्यमंत्रीजी ने अपने सम्बोधन में आश्रम के सेवा-कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने इन मेधावी छात्रों को पुरस्कार प्रदान किये और उन्हें तथा शिक्षकों एवं व्यवस्थापक-मण्डल को बधाई देते हुए कहा कि रामकृष्ण मिशन ने अबुझमाड़ के इस दूर-दराज क्षेत्र में अपने सेवा-कार्यों से एक चमत्कार पैदा किया है। ३-४ वर्ष की अत्यल्प अवधि में सेवा-कार्यों की ऐसी विविधता और विस्तार, साथ ही उनमें ऐसी गुणवत्ता और निपुणता अन्यत्र दिखाई नहीं देती है। उन्होंने आगे कहा कि रामकृष्ण मिशन ने समूचे प्रदेश में सेवा की एक मिसाल कायम की है।

इस अवसर पर मुख्यमंत्रीजी ने आश्रम द्वारा प्रकाशित स्मारिका का लोकार्पण भी किया। स्मारिका का शीर्षक है— "मध्यप्रदेश के वनवासी : विकास और चुनौतियाँ"। इसमें हिन्दी और अंगरेजी भाषाओं में मध्यप्रदेश के वनवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर देश के मूर्धन्य और अधिकारी विद्वानों तथा वरिष्ठ प्रशासकों के प्रामाणिक लेख हैं।
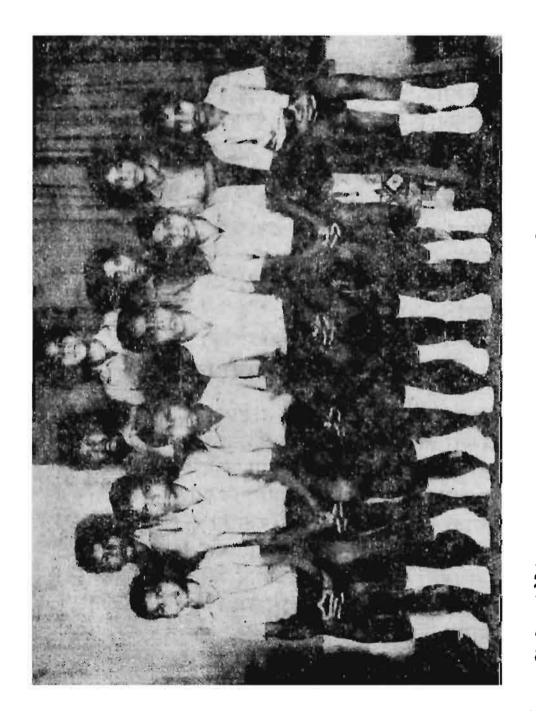
बायें से (बैठे) :—बुधराम, रामधर, गोकुल प्रसाद, राजेन्द्र, सतमन, रामेश्वर ।
बायें (खड़े) :—